# सिद्धयोग

प्रकाशक

# इस अंक में---


| क्रम संख्या लेख | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. पूर्णं पुरुषेण सर्वम् | ............... | १ |
| २. गुरु पूर्णिमा का महत्व (विशेष लेख) | योगयोगीश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज | २ |
| ३. तान्त्रिक बौद्धों का सर्वेश योग | श्री डा० विजयसिंह | ५ |
| ४. अनाशु सार | साध्वी श्री कनकप्रभा | ८ |
| ५. ध्यानात् चित्त की विलीनता | श्री पं० हीरालाल शास्त्री | १० |
| ६. श्री भारतीय योगदर्शन | श्री किशोरीलाल शास्त्री | १३ |
| ७. श्रीकृष्ण (कविता) | श्री राजेन्द्र तिवारी | १७ |
| ८. योगी अवस्था के लक्षण | आचार्य श्री यशोवर्धन | १८ |
| ९. वैराग्य | स्वामी श्री अनन्त श्री चिदानन्द सरस्वती | २३ |
| १०. आगमन ( कविता ) | श्री नागेन्द्र शरण | २८ |
| ११. आत्म विकास के मार्ग | स्वामी श्री कृष्णानन्द जी | ३३ |
| १२. मौलिक चिकित्सा | श्री स्वामी भुवनानन्द | ३५ |
| १३. ईशावास्योपनिषद् ( कविता ) | श्री सत्येन्द्रनाथ पाठक | ४० |
| १४. नमामि पुण्यम् नामम् | .......... | ४२ |
| १५. ब्रह्मचर्य और उसके आदर्श | श्री दरवेश | ४६ |
| १६. योग के विघ्न और उनके उपाय | श्री गिरिजादेव वर्मा | ४७ |
| १७. सन्त श्री सद्गुरुदेव जी महाराज की जम्मू-कश्मीर यात्रा | टाइटिल | ३ |


संयुक्त सम्पादक
दिव्य
फोन १२२६८

# श्री सद्गुरुदेव जी का जन्म-दिवस

## समारोह

२ अक्टूबर १९७६ को

रुड़की में मनाये जाने का निश्चय

---

सभी गुरुभाई-बहनों को हमें यह सूचित करते हुए अतीव हर्ष हो रहा है कि परम श्रद्धेय प्रात:स्मरणीय सद्गुरुदेव ( योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ) का जन्म दिवस समारोह इस बार २ अक्टूबर १९७६ ई० विजय दशमी शनिवार को रुड़की में 'श्री सिद्ध-गुफा साधना मण्डल' रुड़की की ओर से मनाये जाने का निश्चय किया गया है। अतः सभी बहनों भाइयों से निवेदन है कि अपने पूज्य सद्गुरु-देव जी महाराज के पावन जन्म-दिवस समारोह में सम्मिलित होकर गुरु-पूजन एवं गुरु-दर्शन का लाभ लें।

इसके अतिरिक्त श्री पूज्य गुरुदेव जी ने रुड़की में अपना योग-प्रचार कार्यक्रम भी २७ सितम्बर से २ अक्टूबर तक देने की कृपा की है। अतः योग-प्रचार सत्सङ्ग में भी जो भाई आना चाहें वे भी सादर आमन्त्रित हैं।

नोट—कार्यक्रम का स्थान व श्री गुरुदेव जी के निवास स्थान की सूचना आदि निम्न पते से प्राप्त करें।

—संयोजक

चन्द्रभान गुप्ता

२१७/ए रामनगर रुड़की

# सिद्ध योग

वर्ष ९ अङ्क ६

ध्याने ध्यातं प्रविहृ परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्तिमाप्नोति मर्त्यः।
तत्त्वात्स्वयायं बहुविकल्पं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

सितम्बर १९७६


## मम दीनबन्धो !

आयुर्विनश्यति यथामघटस्थतोयं,
विद्युत्प्रभेव चपला बत यौवनश्रीः।
वृद्धा प्रधावति यथा मृगराजपत्नी,
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो॥

अर्थात्

आयु घट में स्थित जल के समान क्षण-क्षण रिसती (चौवती) चली जा रही है, यौवन श्री भी चपला की चमक के समान यदा-कदा चमक कर विलीन हो जाती है, वृद्धावस्था सिंहनी के समान मेरी ओर बढ़ी चली आ रही है। ऐसी दशा में हे मेरे दीनबन्धु! तेरी शरण ही एक मात्र आश्रय है, जहाँ सुरक्षित रूप से रहा जा सकता है।

हमारा विशेष लेख—

# योगी की महाविदेहा धारणा

एवं

## प्रकाशावरणक्षयः

[ योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ]

इससे पूर्व 'सिद्धयोग' के कितने ही अंकों में हमने योगदर्शन के विभूति-पाद की विभूतियों का समझा-समझा कर वर्णन करने का प्रयत्न किया है। मेरे मन में प्रतिक्षण भावना रहती है कि हर व्यक्ति पवित्रतम् योगमार्ग का अनुयायी हो जाय। जब तक मनुष्य अपने मन को संयमित करना नहीं जान जाता तब तक वह अन्तर्जगत में प्रवेश नहीं कर पाता। साधक धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा अपने मन पर नियन्त्रण करके ही इस अन्तः विद्या का ज्ञाता हो सकता है। याद रखना चाहिए कि जो धैर्य एवं दृढ़ताके साथ पूर्ण श्रद्धा-पूर्वक अपने अभ्यास में लगे रहते हैं वे लोग अपने परम लक्ष्य को अवश्य-अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। दृढ़ता इतनी अधिक होनी चाहिए कि योगी अपने मन में धारणा कर ले कि 'देहं वा पातयेयम् कार्यं वा साधयेयम्' अर्थात् कदम आगे बढ़ाकर पीछे न लौटायें, कितनीही कठिनाइयां आये विघ्न, बाधायें उपस्थित हों किन्तु उनका मन विचलित न हो, वे अपने अभ्यास से पीछे न हटें।

'योगदर्शन' के विभूतिपाद के तैतालीसवें सूत्र में भगवान् पतंजलिदेव ने महाविदेहा धारणा वर्णन किया है, इस धारणा के बल से योगी के प्रकाशावरणक्षय का वर्णन किया है, सूत्र इस प्रकार है—

**बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।**

अर्थात् शरीरके बाहर बिना किसी कल्पना के जो वृत्ति कायमकी जाती है वह महाविदेहा कहलाती है। उसमें संयम के बल से जब योगी जय प्राप्त कर लेता है तो उसका निश्चय ही प्रकाशावरणक्षय हो जाता है—

महामुनि श्री व्यासदेव जी का भाष्य -

**शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीर प्रतिष्ठस्य**

मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते। या तु शरीर निरपेक्षया बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्ति सा खल्वकल्पिता, तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति यया पर शरीराण्याविशन्ति योगिनः ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य यदावरणं क्लेश कर्म विपाक त्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति।

अर्थात् शरीर के बाहर बिना किसी साधना के आत्मज्ञान सम्बन्धी वृत्ति का नाम महाविदेहा है—यदि हमारी वह वृत्ति मन के शरीर सम्बन्ध में रहते हुए बहिर्वृत्तिमात्र होती है तो वह कल्पिता कहलाती है। इसके अतिरिक्त यदि वह हमारी वृत्ति इतने ऊँचे अभ्यास में पहुँच गई है कि उसे कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती—शरीर की अपेक्षा रहित है वह अकल्पिता कहलाती है यह वृत्ति कल्पिता द्वारा साधी जाती है तभी अकल्पिता बन पाती है तभी वह महाविदेहा कहलाती है इसी वृत्ति के प्रभाव से योगी लोग दूसरे के शरीर में प्रवेश करते हैं। इस धारणा को दृढ़ करने से योगी की प्रकाशात्मिक सात्विक बुद्धि का आवरण नष्ट हो जाता है अर्थात् जो आवरण क्लेश, कर्म, विपाक, त्रय, रज, तम का मूल वाले अन्धकारमय है उसका नाश हो जाता है।

महाविदेहा धारणा से योगी शरीर की सीमा से बाहर होकर प्रकाशमय शुद्ध सत्व में अपने व्यापक सत्ता में अपने आप में लीन देखता है तब उसके ज्ञानमें कोई अन्तराय नहीं रहता—ऐसी स्थिति में योगी को अनेकानेक सिद्धियें स्वतः ही होने लगती है।

## ❀ प्रभु की ओर ❀

ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति स्वयं साधक में विद्यमान है। उसकी ओर दृष्टि करा देने वाले को गुरु, शास्त्र, महात्मा और भगवान् कहते हैं। इनमें सबसे मुख्य भगवान् हैं। वे सदा सबके हृदय में विराजमान हैं। जिसकी सच्ची लगन होगी, उसे वे हृदय-स्थित प्रभु संकेत देंगे, किसी गुरु या महात्मा से मिला देंगे, कोई ऐसी घटना घटा देंगे, जिसके कारण वह सत्य की ओर चल पड़ेगा, कोई परिस्थिति ऐसी आ जायगी, जिससे वह सत्य-पथ पर चले बिना रह नहीं सकेगा। यह सब काम प्रभु का है। जीवका तो केवल इतना दृढ़ विचार होना चाहिए कि मुझे प्रभु की ओर ही चलना है।

—अज्ञात

# ❁ समय की बूँदें ❁

सन्त रैदास जाति के चमार थे और जीविका निर्वाह के लिए जूता बना कर बेचने का व्यवसाय करते थे। इनके चारु-चरित्र की चर्चा और ख्याति चारों ओर फैली हुई थी।

एक दिन जब इनके द्वार पर एक ज्ञान-गोष्ठी चल रही थी, तब एक सेठ जी भी धर्म लाभ लेने की इच्छा से श्रोताओं की भीड़ में आकर बैठ गये। ज्ञान-चर्चा समाप्त होने पर श्रोताओं को प्रसाद बांटा गया।

× × × ×

यह प्रसाद चरणामृत के रूप में था जिसे एक बूढ़ा चमार एक कूंडे में भरकर बांट रहा था। सब लोगों ने बड़े प्रेम से चरणामृत को अपनी अञ्जुली में लेकर पी लिया। जब सेठ जी की अञ्जुली में यह चरणामृत डाला गया तो लोगों के दिखाने के लिए तो उसने ओठों से लगाया, किन्तु उसको पीने के बजाय नज़र बचाकर ज़मीन पर पटक दिया। पश्चात् सभी लोग अपने-अपने घर चले गये।

घर जाकर सेठ जी ने जब कपड़े उतारे तो उन्हें अपने कपड़ों पर चमड़े जैसे रंग के बड़े-बड़े धब्बे पड़े हुए दिखाई दिये। तुरन्त ही सेठजी ने इन कपड़ों को धुलवाने के लिए धोबी को दे दिया। धोबी जब उन कपड़ों को धोने लगा तो भी वे दाग उसके प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटे। अन्त में उसने उन दागों को दांतों से रगड़कर छुड़ाया। दागोंके दांतों से लगते ही कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि धोबी को वेद-शास्त्र की अनेक गम्भीर बातें स्मरण हो आईं।

कपड़े लेकर जब वह सेठ जी के घर पहुंचा तो कपड़े देने के बाद वह उनसे अपनी स्मरण आई हुई वेद-शास्त्रों की बातों की चर्चा करने लगा। सेठ जी ने पूछा तुझमें यह चमत्कार कैसे आ गया।

धोबी बोला महाराज यह चमत्कार तो आपके कपड़ों पर पड़े धब्बों का ही मालूम देता है क्योंकि जैसे ही मैंने उन धब्बों को दांतों से रगड़कर छुड़ाने की कोशिश की वैसे ही मुझे वेद शास्त्र की कठिन से कठिन सूक्तियाँ सहसा स्मरण हो आयीं जो अब तक मुझे कंठाग्र हैं। सेठजी ने तुरन्त ही यह समझ लिया कि क्योंकि दाग रैदास जी के घर पर बंटे चरणामृत के दाग थे और इस चरणामृत के दांतों से छू जाने के कारण ही धोबी की बुद्धि में यह चमत्कार आया है।

सेठजी दूसरे दिन फिर रैदास जी का चरणामृत लेने की इच्छा से उनके दरवाजे पर जा पहुँचे। उस दिन कथा तो हुई किन्तु चरणामृत नहीं बांटा गया। सेठजी ने खड़े होकर पूछा कि महाराज क्या आज चरणामृत नहीं बँटेगा।

सन्त रैदास ने हँसकर कहा—सेठजी वह चरणामृत तो 'समय की बूँदें' थीं जो लेने से रह गया सो रह गया, अब उस चरणामृत के बँटने का अवसर कब आयेगा, यह मैं भी नहीं कह सकता। सेठ जी निराशा भरे हृदय से अपने घर लौट गये और पश्चाताप करने लगे कि क्यों नहीं उन्होंने उस सन्त के चरणामृत को उस दिन पीकर अपना जीवन सफल बनाया।

—बनवासी

# प्रभुस्मरण स्त्रोत्र

[ ले० प्रेमनारायण शास्त्री, द्विवेदी ]

श्री रामलालं मनसा स्मरामि ।
श्री रामलालं वचसा गृणामि ॥
श्री रामलालांघ्रि-युगं नमामि ।
श्री रामलालं-प्रभुमाश्रयामि ॥ १

योगीन्द्रमीशं गुरुमादिदेवं ।
ध्यानावहं कोटि रवि प्रकाशम् ॥
तापापहं कोटि शशि प्रकाशं ।
श्री रामलालं शरणं प्रपद्ये ॥ २

मायातीतं सद्गुरुं रामलालं ।
ध्याये ब्रह्मानन्द चित्स्वरूपम् ॥
घोराज्ञानध्वान्त विध्वंस भानुं ।
भावज्ञयोगी ह्यभिवंदयामि ॥ ३

नो मे भक्तिः पदकमलयोः सद्गुरोः श्रीकृपालोः ।
नो मे शक्तिर्यमनियमयोः साधने भक्तिदेव ॥
ध्याने योगे नहि ममगतिर्नाथवत्सलत्वमेव ।
दीनं हीनं तव शरणगं पाहि मां ॥ ४

न ज्ञाता त्वत्समः कश्चिन्न मत्तो मलिनः क्वचित् ।
तस्मात्कृपावलोकेन निर्भयं कुरु मां प्रभो ॥
हृदयाज्ञाननाशाय तत्परं सदयं सदा ।
श्रीनन्दमोहिते भक्त्या नौमि मोहनरूपिणम् ॥ ५

योगसिद्धि प्रवाहेन भक्त तापाय हारिणा ।
इदं स्वार्थं जगत्सर्वं लोकाः सन्ति यदृच्छया ॥

# पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥

जो मनुष्य अभ्यास के लिए पढ़ते या किसी को पढ़ाते हुए गुरु की बिना आज्ञा के वेद को प्राप्त करता है वह वेद की चोरी से युक्त है और नरक को जाता है।

× × ×

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥

जिससे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करे उसे ( सभा में ) पहले नमस्कार करे।

× × ×

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥

केवल गायत्री का जानने वाला ही जितेन्द्रिय ब्राह्मण श्रेष्ठ है, पर तीनों वेद का ज्ञाता भी जो सर्वभक्षी, सब वस्तु बेचने वाला और अजितेन्द्रिय हो वह श्रेष्ठ नहीं है।

× × ×

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥

जब गुरुजन खाट या आसन पर बैठे हों उस समय कल्याण चाहने वाला उनके समान आसन पर न बैठे। और यदि स्वयं पहले से खाट या आसन पर बैठा हो तो उठकर उनको प्रणाम करे।

× × ×

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

जिसका प्रणाम करने का स्वभाव है और जो नित्य वृद्धों की सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं।

× × ×

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥

मौसी, मामी, सासु और बुआ—ये गुरुपत्नी के समान आदर के योग्य हैं; क्योंकि ये गुरुपत्नी के समान हैं।

× × ×

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥

सवारी में बैठे हुए को, नब्बे से अधिक अवस्था वाले को, रोगी को, बोझवाले को, स्त्री को, स्नातक (जिसका समावर्तन-संस्कार हो चुका हो उस) को, राजा को और दूल्हा को मार्ग देना चाहिए।

× × ×

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥

जो गुरु जिसका थोड़ा या बहुत वेद पढ़ाकर उपकार करने वाला हो, उस वेद पढ़ाने के कारण उसको भी संसार में गुरु जाने।

× × ×

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥

ब्राह्मणों का ज्ञान से, क्षत्रियों का वीर्य से, वैश्यों का धन-धान्य से और शूद्रों का आयु से ही बड़प्पन होता है।

× × ×

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

सिर के बाल सफेद होने से कोई बड़ा नहीं होता। जो तरुण भी पढ़ा-लिखा हो तो देवता उसे वृद्ध कहते हैं। —मनुस्मृति

# कुछ उपयोगी योगासन

**चक्रासन—**

चित्त लेटकर हाथों और पैरों के पंजे भूमिपर लगाकर कमर का भाग ऊपर उठावें। हाथ पैरों के पंजे जितने पास-पास आ सकें उतने लाने का यत्न करें। यह आसन खड़ा होकर पीछे से हाथों को जमीन पर लगाने से भी होता है।

फल—कमर और पेट के स्थान को इससे अधिक लाभ पहुँचता है, पृष्ठवंश सदा आगे की ओर झुकता है, उसका दोष इस आसन द्वारा विरुद्ध झुकाव होने से दूर हो जाता है।

**गर्भासन—**

चित्त लेटकर दोनों पैरों को ऊपर उठाकर सिर की ओर जमीन में लगावें, फिर दोनों पैरों को गर्दन में एक पर दूसरे पैर को देकर फँसावें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पैरों के अन्दर की ओर से ले जाकर कमर को एक-दूसरे हाथ से पकड़कर बांधें। इससे पेटके सब प्रकार के रोग, कोष्ठबद्ध, यकृत, प्लीहा (तिल्ली) आदि दूर होते हैं।

**विश्रामासन—**

इसे शवासन भी कहते हैं। शरीर के सब अंगों को ढीला करके मुर्देके समान लेट जाय। सब आसनों के पश्चात् थकान दूर करने और चित्तको विश्राम देने के लिए इस आसन को करें।

**हलासन—**

इसका दूसरा नाम सर्वाङ्गासन भी है। चित्त लेटकर दोनों पैरों को उठाकर सिर के पीछे जमीन पर इस प्रकार लगावें कि पांव के अँगूठे और अँगुलियां ही जमीन को स्पर्श करें, घुटनों सहित पांव सीधे समसूत्र में रहें, हाथ पीछे भूमि पर रहें।

दूसरा प्रकार—दोनों हाथों को सिर की ओर ले जाकर पैर के अँगूठों को पकड़ कर लावें।

फल—कोष्ठबद्ध का दूर होना, जठराग्नि का बढ़ना, आँतों का बलवान् होना, अजीर्ण, प्लीहा, यकृत् तथा अन्य सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति और क्षुधा की वृद्धि करता है।

**कर्णपीड़ासन—**

हलासन करके घुटने कानों पर लगाने से कर्णपीड़ासन बनता है, इसमें दोनों हाथों को पीठ की ओर जमीन में लगाना चाहिए।

फल—सर्वाङ्गासन के समान, पेट के रोगों के लिए इसमें कुछ अधिक विशेषता है। नाड़ी-अनुसंधान में भी सहायक है। पेट साफ करने से पारलौकिक लाभ की प्रतीति होगी।

# ध्यान योग

[ आचार्य वेदव्रत शास्त्री, कासगंज ]

सपत्नहीना वसुन्धरा को अपने धनुष की सहायता से विजित कर जिस राजर्षि ने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम को प्रकट कर अपने नाम को अमर बनाया था, उस धर्मज्ञ सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ महात्मा का मन सांसारिक विषयों से परिशून्य होकर सूक्ष्मतत्व के अन्वेषण में प्रवृत्त हो गया।

महलकर्मों का परित्याग कर वृक्ष मूल में अवस्थित होकर सूक्ष्मतत्व चिन्तन के लिये वह राजर्षि चिन्ता करने लगे।

## विचार की प्रथम सोपान—

मन से ही मुझे बन्धोपलब्धि हुई है अतः यही सबसे महान् एवं प्रबल है। इसको जय कर लेने पर निश्चय ही मैं सर्वजयी बन जाऊँगा। इस समय मैं प्रधानों इन्द्रिय-गणों से घिरा हुआ हूँ, इन आन्तरिक शत्रुओं पर अपने बाणों का तीक्ष्ण प्रहार कर प्रथम इन पर विजय प्राप्त करने पर बाह्य शत्रुओं पर अकारण आक्रमण से क्या लाभ ?

संसार के सभी प्राणियों को यह मन ही अपनी चञ्चलता के कारण अनेक प्रकार के अनर्थकर कर्म कराता रहता है अतः सबसे प्रथम अब मेरे तीखे बाणों का प्रहार, हे मन! तेरे ही ऊपर प्रारम्भ होगा। राजर्षि का यह विचार सुनकर मन ने कहा—राजन्! आपके ये बाण मेरा कुछ भी विनाश नहीं कर सकते हैं। प्रत्युत तुम्हारे ही शरीर के अंगों की मर्मस्थानों को विनष्ट कर यह तुम्हारी ही मृत्यु के कारण बनेंगे, अतः इन बाणों का विचार त्याग कर तुम अन्य प्रकार से मुझे जीतने का प्रयास करो। मन की मर्मभरी बातें सुनकर राजर्षि विचार में पड़ गये।

## विचार की द्वितीय सोपान—

मेरी नासिका अनेक प्रकार की सुगन्धियों का अनुभव करके भी पुनः इन्हीं की कामना करती रहती है अतः आज इसीको प्रथम अपने बाणों से विद्ध करूँगा।

नासिका ने राजर्षि के विचार को सुनकर कहा—राजर्षे! आपके ये बाण मेरा अपकार नहीं कर सकेंगे, आपके ही मर्म-स्थानों को

नष्ट कर आपकी ही मृत्यु के कारण होंगे; अतः अन्य प्रकार से मुझे जीतने का विचार कीजिये।

## विचार की तृतीय सोपान—

राजा ने विचार किया, रसमयी मेरी यह रसना अनेक स्वादिष्ट रसों का उपभोग कर पुनः पुनः उन्हीं को पाना चाहती है इसलिए इसके ऊपर ही बाणों का प्रथम प्रहार किया जाना चाहिए।

जिह्वा ने राजर्षि की बात को सुनकर वही बात कही जो मन एवं नासिका द्वारा कही गई थी।

राजर्षि पुनः चिन्तित होकर विचार करने लगा।

## विचार की चतुर्थ सोपान—

राजर्षि ने विचार किया कि त्वचा ही नाना प्रकार के स्पर्शों का अनुभव करके उन्हीं की अभिलाषा में लीन रहती है, अतः इसको ही अपने बाणों से विद्ध करूँगा।

त्वचा ने भी राजर्षि की बात को सुनकर अपने पूर्ववर्ती की बातों को दुहराया।

## विचार की पञ्चम सोपान—

राजर्षि पुनः चिन्तित हो उठे और उन्होंने विचारा कि मेरे ये श्रोत्र नाना प्रकार के वाद्य गीत ध्वनियों की ध्वनि को सुनकर भी उन्हीं की अभिलाषा करते हैं, अतः श्रोत्रों पर अपने बाणों का प्रहार कर कृतकृत्यता प्राप्त कर लूँ।

राजर्षि की वार्ता को सुनकर श्रोत्रों ने भी वैसे ही उत्तर दिये, जैसे अब तक अन्यों ने दिये थे।

राजर्षि पुनः चिन्तित हो गये।

## विचार की षष्ठ सोपान—

राजर्षि ने विचार किया, यह स्वेत कृष्ण और नयन अनेक प्रकार के विभिन्न रूपों का दर्शन कर भी पुनः उन्हीं की आकांक्षा करता रहता है। अतः इसी को बाणों का लक्ष्य बना डालूँ।

चक्षुओं ने राजर्षि की बातको सुनकर वही सब बातें कहीं जो अन्य कह चुके थे।

## विचार की सप्तम सोपान—

अन्त में राजा ने विचार किया कि बुद्धि अपनी ज्ञान शक्ति से अनेक प्रकार के निश्चय कर मुझे भ्रमित बनाती रही है, अतः बुद्धि पर अनुभिद्धत बाणों का प्रहार करूँगा।

राजर्षि की बात को सुनकर बुद्धि ने भी कहा— राजर्षि! इन बाणों से तो आपका ही मर्म विदीर्ण होगा और परिणामतः आपकी ही मृत्यु होगी, इसलिए किन्हीं अन्य उपायों द्वारा हमको जीतने का उपाय कीजिये।

**विचार की अष्टम सोपान —**

वह शील-सम्पन्न राजर्षि एकाग्र चित्त होकर दया कर्म में प्रवृत्त हो गये परन्तु मन सहित पाँचों इन्द्रियों को जीतने के उपाय का पता न चल पाया। निरन्तर विचार करते करते मेधावी राजर्षि ने अन्तिम यह निश्चय किया कि समस्त कल्याणकारी साधन यदि कोई हो सकता है तो वह योग ही है। और कुछ नहीं।

**अन्तिम सोपान ध्यान योग——**

इसलिये राजर्षि ने मन को एकाग्र कर स्थिर आसन पर बैठ कर ध्यान योग का आश्रय लेकर साधना में प्रवृत्त हो गये।

ध्यान योग रूपी एक ही बाण से उस राजर्षि ने समस्त बलशाली दुनिया को परास्त कर दिया और—

**योगेनात्मनमाविश्य**
**सिद्धिं परमिकां गतः।**

ध्यान योग से आत्मा में प्रवेश कर परम-सिद्धि को प्राप्त हो गये।

इस प्रकार की सिद्धि को प्राप्त कर राजर्षि को महान् आश्चर्य हुआ और उन्होंने उच्चस्वर से गान किया कि ओ संसार के समस्त मानवो सुनो—

**अहो कष्ट यदस्माभिः**
**सर्वं बाह्य मनुष्ठितम्।**
**भोगतृष्णा समायुक्तैः**
**पूर्वं राज्यमुपासितम्।**
**इति पश्चान्मया ज्ञातं**
**योगान्नास्ति परं सुखम्।**

ओह! बड़े कष्ट की बात है कि मैं अब तक बाहरी काम्य कर्मों में ही व्यस्त रहा और भोगों की तृष्णा से आबद्ध होकर राज्य का ही उपासना करता रहा।

ध्यान योग से बढ़कर दूसरा कोई उत्तम सुख का साधन नहीं है। यह बात तो मुझे पीछे मालूम हुई है।

सिद्धियोग के पाठको! राजर्षि अलर्क ने जो बात इतने कष्ट के उपरान्त प्राप्त की थी वही बात आज आपको सर्वांश में सुलभ है अतः ध्यान योग का आश्रय लेकर आत्म-कल्याण की इस वेला का परित्याग मत करो क्योंकि—

**ततः श्रेयोऽधिगम्यसे**

इसी प्रकार तुम्हें कल्याण प्राप्त होगा।

# सत्य

[ श्री डा० बद्रीप्रसाद पंचोली ]

सांख्य-योग विभागाध्यक्ष, श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, ( नई दिल्ली )

"सत्यं शिवं सुन्दरम्" यह वाक्य इस बात को सुस्पष्ट करता है कि सत्य कितना परमावश्यक एवं समभिप्रेत तत्त्व है। वस्तुतः संसार में जो सत्य है वही कल्याणकारी है और सच्चे माने में सुन्दर भी वही है जो पारमार्थिक रूप से कल्याणकारी हो।

यद्यपि प्रयोग किया जाता है—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

इत्यादि वचनों के अनुसार ब्रह्म ही सत्य का सही स्वरूप है, और स्थूलात्मकव्यापक-निखिल सांसारिक अनित्य वस्तुयें मिथ्या है। किन्तु यहाँ योगदर्शन में प्रतिपादित आठों अङ्गों के अन्तर्गत एक प्रथम अङ्ग यम है उसका प्रतिपादन करते हुए प्रथम लेख में अहिंसा का प्रतिपादन कर चुकने पर अब क्रम प्राप्त यम के द्वितीय उपांगभूत अंग सत्य का निरूपण करना समभिप्रेत है। जो वाणी मन एवं व्यवहार में सत्यता रहे जो हम सोचें वही करें, तथा तदनुकूल ही व्यवहार हो, अथवा जो कुछ सत्य बोल रहे है उससे अकल्याण ही अनर्थ नहीं इसी तथ्य का निरूपक है।

संसार में हर व्यक्ति के लिए सत्याचरण परमावश्यक है। बिना सत्य के कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में रह नहीं सकता। जिस वस्तु के बिना हमारा कार्य सानन्द चल सके, उसे हम स्वीकार करें या न करें यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु जिसके बिना हमारा कार्य चल ही न सके उसको तो हमें बिना किसी प्रकार के ऊहापोह के सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए तथा आजीवन निभाना चाहिए।

ऐसे ही अपरिहार्यतया स्वीकृत करने योग्य तत्त्वों में से परमाभिप्रेत ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों स्थितियों में प्राणको अपने अभिप्सित प्रयोजनों की सिद्धि पूर्वक संसार में सुख तथा आखिर में सद्गति दिलवाने वाला धर्मार्थ काममोक्ष, चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का मूल तत्त्व सत्य है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति सत्याचरण के बिना एक दिन की सामान्य दिनचर्या भी नहीं चला सकता। किसी भी व्यक्ति के लिए सत्याचरण के बिना एक दिन भी निका-

तथा सर्वथा कठिन ही नहीं असम्भव भी है। क्योंकि बुभुक्षा लगने पर जिस वस्तु को खाना चाहेगा उसीको खाना पड़ेगा, प्यास लगने पर जो पीना चाहता है उसी वस्तुको पीना पड़ेगा तथा तदर्थ समयानुकूल व्यवहार एवं वाणी का भी प्रयोग करना ही पड़ेगा। इसी तरह शौच-निवृत्ति की इच्छा, गर्मी और सर्दी से बचाने की भावना और अन्यान्य कार्यों के लिए उसे सत्य व्यवहार करना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं पिता को पिता, स्त्री को स्त्री, पुत्र को पुत्र, पुत्री को पुत्री एवं नैक विध सम्बन्ध सम्बद्ध सम्बन्धियों को तत्तत्सम्बन्ध निर्देश पूर्वक व्यवहृत करना ही पड़ेगा। इत्यादि प्रतिदिन व्यवहृत होने वाले सामान्यातिसामान्य व्यवहारों में भी जब सत्यके बिना काम नहीं चल सकता तो न जाने व्यक्ति ऐसे परमावश्यक तत्त्व को छोड़कर असत्य का सम्बल क्यों ले रहा है। विचार करने पर सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि हर व्यक्ति यह सोचता है कि मैं झूठ बोलकर जल्दी से जल्दी खूब धन इकट्ठा कर लूँ, अन्य लोगों के सुख सुविधा के साधनों को हड़प लूँ आदि। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध में से किसी भी विषय की समुपलब्धि कैसे भी हो जितनी ज्यादा से ज्यादा हो सके तदर्थ आवश्यकता पड़ने पर असत्य बोलने से नहीं चूकता, परन्तु असत्य अस्वाभाविक है अतः कभी न कभी वह सामने उभर आ ही जाता है तथा उस असत्यवक्ता को नीचा देखना पड़ता है या दण्डित होना पड़ता है। अतः विचारवान् व्यक्ति सदा सत्य ही बोलता है तथा बड़े से बड़े संकट के उपस्थित होने पर मिथ्याभाषण से कोसों दूर ही रहता है।

सत्य भाषण के विषय में शास्त्रकारों ने लिखा है कि—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात्,
एष धर्मः सनातनः ॥

हमेशा सत्य बोलना चाहिए। मीठा बोलना चाहिए, और कटु सत्य भी नहीं बोलना चाहिए साथ ही मीठा बोलने के लिए झूठ भी नहीं बोलना चाहिए यही परम्परा से प्रचलित शास्त्रविहित कर्त्तव्य है। अर्थात् मनुष्य को हमेशा सत्य ही बोलना ही चाहिए किन्तु यदि कोई सत्य भाषण अहिंसाव्रत का विघातक हो तो ऐसी स्थिति में मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर है। किसी परिस्थिति में किसी की खुशामद करते हुए भी मिथ्याभाषण करते हुए मीठी-मीठी बातें नहीं बनानी चाहिए। इसीलिए कविकुलगुरु कालिदास भी लिखते हैं कि—

"सत्याय मित भाषिणाम्"

जो जितना कम बोलेगा उतना ही उसे अपने सत्यवक्तृता की सुरक्षा में पूर्ण सौविध्य

रहेगा। क्योंकि ज्यादा बोलने वाले व्यक्ति को कुछ विशेष बातों की जरूरत रहती है। अतः वह बात का बतंगड़ बनाता हुआ कितने ही मिथ्या कथानक गढ़ डालता है तथा कुछ नमक-मिर्च लगाकर अर्थात् व्यर्थ की मिथ्या-बुद्धि पूर्वक हर बात कहने की भी उसकी आदत स्वाभाविक हो जाती है। ऐसा व्यक्ति घर में और समाज में सर्वत्र नैकविध अपमान पाने लगता है तथा कई बार उसे स्वयं को भी अपने मिथ्याभाषण का प्रायश्चित करते हुए आत्मग्लानि का शिकार बनना पड़ता है।

सत्य के विषय में पातञ्जल योग-दर्शन के व्यास-भाष्य में लिखा है कि—

**सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्रस्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।**

तात्पर्य यह है कि जिस विषय में जैसा ज्ञान मन में है वही वाणी पर भी आना चाहिए यानी जैसा देखा हो, जैसा अनुमान लगाया हो या जैसा सुना हो वैसा ही मनमें संकल्प रखना चाहिए तथा वैसी ही वाणी बोलनी चाहिए। व्यक्ति को बोलने की जरूरत इसीलिये होती है कि जो भी उसका आशय है, जो उसका ज्ञान है, जो कुछ उसकी अनुभूतियां हैं वे श्रोता में संक्रमित हो सकें अर्थात् जो कुछ मैं समझा रहा हूँ श्रोता समझ ले।

वाणी सत्य वही कहलाती है जो ठगने वाली न हो, भ्रान्तिपूर्ण न हो तथा समझाने वाला न समझ सके ऐसी न हो। उदाहरण के लिए लीजिए, श्री युधिष्ठिर का श्री द्रोणाचार्य के प्रति अश्वत्थामा की मृत्यु का बतलाना। युधिष्ठिर इस बातको जानते हैं कि अश्वत्थामा की मृत्यु को सत्य मान लेने पर द्रोणाचार्य युद्ध से विरत हो जायेंगे। उन्हें अपने पुत्र अश्वत्थामा की सलामती का स्पष्टीकरण चाहिए और उन्हें पूर्ण विश्वास है कि युधिष्ठिर सर्वथा सत्यवादी हैं, इसलिए युधिष्ठिर ही जाने युद्ध में कह दें कि अश्वत्थामा मर गया है तो वे मान लेंगे कि सचमुच मेरा पुत्र युद्ध में काम आ गया है तथा मुझे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार युद्ध-विरत हो जाना चाहिए, इत्यादि। यह सब कुछ जानते हुए भी अश्वत्थामा नाम के हाथी के मर जाने की सूचना केवल अश्वत्थामा "हतो नरो वा कुञ्जरो वा" यह निश्चित सत्याभास था। सुस्पष्ट रूप से

वह झूठ ही था, क्योंकि वह बात द्रोणाचार्य को ठगने के लिए कही गई थी।

इसी तरह अध्यापक कक्षा में पढ़ा रहा है और वह किसी ग्रन्थांश के विषय में स्वयं ही सुस्पष्ट अवबोध नहीं कर पाया है। उसे यह भ्रम है कि यह भाव भी हो सकता है तथा वह भी हो सकता है अथवा इस ग्रन्थांश का यह आशय है या नहीं इत्यादि। किन्तु वह अपनी अज्ञान सम्बन्धी कमजोरी को छिपाता हुआ विद्यार्थियों को सन्दिग्ध भाव ही समझा देता है, तो वह भी निश्चित रूप से झूठ ही बोल रहा है। क्योंकि जो बात उसके मन में है, वही वाणी पर नहीं आ रही है, तथा वह भ्रान्ति ज्ञान देने का धोखा कर रहा है। हम लोग कई बार व्यवहार में देखते हैं कि कई लोग यह समझते हैं कि जो हम कह रहे हैं, उसे वह समझ नहीं रहा है। फिर भी हम वैसे शब्दों का प्रयोग जान-बूझकर करते हैं। जिन शब्दों के माध्यम से श्रोता हमारे आशय को नहीं समझ सके। ऐसे प्रयोग को आधुनिक लोग "समाज में अंधेरे में देना" कहते हैं, अर्थात् जो कुछ आप किसी को भला-बुरा कहना चाहते थे, वह तो किया किन्तु बेचारा वह उसे समझ नहीं पायेगा और न आपका कुछ अपकार ही कर सकेगा। किन्तु यह भी सत्याभास है क्योंकि 'परत्र स्वबोध संक्रान्तये' दूसरे में अपने बोध को संक्रमित करने के लिए वाणीका प्रयोग सत्य होता है और उस नियम का यहां सर्वथा उल्लंघन हो रहा है। अतः यह झूठ ही माना जायेगा, सत्य नहीं।

यद्यपि सर्वथा जो कुछ निर्भ्रान्ति रूप से हमें देखकर अनुमान करके या सुन करके ज्ञात है, उसे बिना छिपाये हुए साफ-साफ कह देना ही सत्य है तथापि इस विषय में व्यास जी बहुत गहराई से विचार करते हैं। वे सोचते हैं कि सत्य बोलना क्यों जरूरी है? सत्यं वद आदि की व्यवस्था किस लिए की गई है? केवल इसीलिए कि संसार की व्यवस्था "जिओ व जीने दो" की व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप में चले, तथा किसी भी प्राणी को कोई कष्ट न हो। इसीलिए आपने योग-दर्शन के भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि—

एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय।

भाव यह है कि सत्य वाणी भी सत्य तभी तक समझी जायगी, जब तक प्राणीमात्र की भलाई की दृष्टि से निःस्वार्थ भाव से इसका प्रयोग किया जाय। यदि किसी प्राणी या प्राणि वर्ग को आपके सत्य बोलने पर चोट पहुंचती हो, कष्ट होता हो, तो वह सत्य भी हिंसा सम्पृक्त हो जाने से पाप का कारण होता है। ऐसी वाणी बोलने से भी पाप ही लगता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियों के हिताहित का विचार करके सर्वजनहिताय प्राणीमात्र की भलाई हो सके, ऐसा ही सत्य बोलना चाहिए।

इस विषय में विचार करने पर सुस्पष्ट होता है कि व्यास जी ने ऊहापोहपूर्वक यह निष्कर्ष निकाला कि झूठ बोलने का पाप अधिक है अथवा सत्य बोलकर हिंसा करवाने का पाप अधिक है। यही सोचकर कि हिंसा करवाने के लिए बोले गये सत्य की अपेक्षा अहिंसा का परिपालन करवा देने वाला झूठ का पाप स्वल्प होगा और अन्ततोगत्वा जो फल मिलता है उसमें पाप की न्यूनता तथा पुण्य की अधिकता रहने के कारण वही श्रेयस्कर है। लिखा भी है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

दूसरों की भलाई करना ही सबसे बड़ा पुण्य है तथा दूसरों की बुराई करना ही सबसे बड़ा पाप है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

आदि वचनों के आधार से भी यही स्पष्ट होता है कि हम ऐसा सत्य बोलें जिसमें सार्वजनिक हित लोककल्याण भावना और विश्वबन्धुत्व की भावना समनुस्यूत रहे।

मैं सोचता हूँ यदि इस आदर्श को मानकर दुनिया का हर व्यक्ति चलने का पक्का इरादा कर ले तो निश्चित ही सम्पूर्ण विश्व में शान्ति का बोलबाला हो क्योंकि आज जो आतंक या कष्ट है वह कहीं से अवतरित नहीं है। अपितु हम ही लोग परस्पर मिथ्यात्व प्रयोग साक्षात् अथवा प्रच्छन्नतात्मक दृष्टि से करते हैं; इसीसे हम सभी प्रायः दुःखी हैं। यदि मानव मात्र प्रतिज्ञाबद्ध हो कि मैं अपनी ओर से किसी भी व्यक्ति को ही नहीं जीवमात्र को कोई कष्ट नहीं दूँगा तथा अपने कार्य से समय निकाल कर जो बन सका दूसरों का उपकार करूँगा दूसरों की सुख-सुविधाओं को अपनी सुख-सुविधाओं की तुलना में अधिक महत्त्व दूँगा। तो फिर किसी भी व्यक्ति को किसी भी समय किसी भी स्थिति में साक्षात् परम्परया या प्रकारान्तर से भी झूठ बोलने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी, यथा—

"सत्यमेव जयते नानृतम्"

का बोलबाला होगा। और इस तरह हम आपस में एक दूसरे को मिथ्या आरोपों द्वारा कष्ट दे रहे हैं उनके स्थान पर सत्यके प्रयोगों द्वारा सुख प्रदान कर सकेंगे, तथा इस तरह संसार में सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर तो निश्चित ही संसार सर्वथा सुखी होगा और निष्काम भावसे सत्याचरण करता हुआ मानव अपने कर्माधिकारावस्था के व्यवहार से भी परोपकार परायण व आत्मिक संस्कृत होने से परम-शान्ति परम पुरुषार्थ मोक्ष को समधिगत कर सकेगा।

उपर्युक्त सत्य प्रयोग की चर्चा से सुस्पष्ट हो जाता है कि संसार को सही दिशा में

अग्रसर करने के लिए सर्वोत्तम साधन है अतः हम सभी को अपने सांसारिक एवं पारलौकिक परम सुख समुपलब्धि के लिए भी यह परमावश्यक है कि हम मन, वाणी तथा कर्मों में सर्वथा सत्य का प्रयोग करें, तथा इस तरह हम सभी स्वयं सुखी रहकर संसार के सभी प्राणियों को सुखी रह सकने का सौविध्य प्रदान कर सकते हैं। हमारा आदर्श है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

तदनुसार भी हमें सर्वथा सत्याचरण द्वारा निखिल प्राणिवर्ग को सुखी स्वस्थ, कल्याण-द्रष्टा एवं सर्वथा दुःख शून्य बनाने का कर्त्तव्य निभाना ही चाहिए। इस तरह सर्वथा सत्याचरण करने पर अंश तथा अंशी में अभेदैकात्मता होने से हम सब भी प्रत्येक इकाई हैं अतः सुखी स्वस्थ कल्याणद्रष्टा एवं सर्वविध दुःख शून्य होंगे ही। अतः इस तरह सुस्पष्ट है कि मनसा वाचा कर्मणा सर्वथा सत्याचरण श्रेयस्कर है।

इस प्रकार किसी भी परिस्थिति में किसी भी तरह से झूठ न बोलें जो सोचें वही कहें तथा वैसा ही करें तो ऐसी स्थिति में शनैः शनैः सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् सत्याचरण की साधना करते-करते वह सत्याचरण स्वाभाविक बन जाता है, सहज हो जाता है, बिना किसी प्रकार का अवधान दिये भी सत्य ही सत्य मन वाणी एवं कर्मों में समनुस्यूत हो जाता है तो ऐसी स्थिति में वाणी में ऐसी शक्ति स्वतः समुद्भूत हो जाती है कि वह जो कहता है वही सही हो जाता है। चाहे वह किसी क्रिया के लिए कहे या चाहे वह किसी क्रिया के फल के लिए कहे, दोनों ही उसकी वाणी के सहारे सम्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए भगवान पतंजलि ने सूत्र लिखा है कि

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर धर्माचरण आदि क्रियाओं एवं स्वर्गलोक प्राप्ति आदि फलों की आश्रयता समधिगत हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपनी वाणी से कहदे कि धार्मिक हो जाओ तो व्यक्ति धार्मिक हो जाता है तथा वह कहदे कि स्वर्ग को प्राप्त करो तो व्यक्ति बिना स्वर्ग प्राप्ति-परक कर्मों के आचरण के ही स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए हम सभी के लिए यह परमावश्यक है कि हम सर्वथा सत्याचरण हेतु उत्साहित हों तथा सत्य की स्वाभाविकता प्रदान करते हुए अपने में सुप्रतिष्ठित करलें, और फिर नैकविध प्रवञ्चनाओं में फँसे हुए अपने सम्पूर्ण विश्व के बन्धुओं में सदाचार की भावना का

पूर्व प्रकाशित से आगे—

# श्री नारदीय योगदर्शन

[ प्रेषक—श्री किशोरीलाल शास्त्री, झाँसी ]

एक समय 'मही सागर संगम' तीर्थ पर महर्षि बाभ्रव्य, देवर्षि नारद और कौन्तेय अर्जुन बैठे हुए सत्संग संलाप कर रहे थे। उसी समय बाभ्रव्य महर्षि के द्वारा नारद जी के विशेष आचरणों की प्रशंसा के समय "योगाभ्यास" की सर्व श्रेष्ठता को सुनकर अर्जुन के द्वारा नारद जी से "योग दर्शन" की विशेष विवेचना करने की प्रार्थना किये जाने पर देवर्षि नारदजी अर्जुन से कहते हैं—

हे अर्जुन ! तुमने श्री लीलावतार ब्रजेन्द्र नन्दन कृष्ण जी से महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में ही यद्यपि विस्तार से इसका समाधान पूर्वक योग-दर्शन को सुना है, परन्तु युद्ध भूमि में सुना हुआ ज्ञान विस्मृत सा हो गया है। क्योंकि उस समय तो युद्ध करना ध्येय था। केवल उस समय जो स्वकर्त्तव्य से विमुख करने वाला आत्मीयता का मोह तुम को हो गया था उसी के निराकरण को लक्ष्य बनाकर भगवान् श्रीकृष्ण जी ने तुम्हारी शंकाओं का समाधान किया था। जिसमें उन्होंने तुमको योग की अनेकों परिभाषायें कही थी यथा:—

(१) यं संन्यास मिति प्राहुः
योगं तं विद्धि पांडव ।

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

संचार करें। सभी को सत्याचरण हेतु कहें तथा सद्गति प्राप्ति का अधिकारी बनायें। इस तरह सम्पूर्ण संसार की ऐहिक तथा आमुष्मिक प्रोन्नति प्राप्त करने के लिए सत्याचरण का ही सम्बल ग्रहण करना जरूरी है।

जब तक संसार सत्याचरण का सम्बल नहीं लेगा: विश्व शान्ति का स्वप्न फीका है। सत्याचरण ही सही मानें में सभी को समान रूप से सर्वथा सुख समृद्धि एवं परम शान्ति प्रदान करने वाला परम सूत्र है। सत्य के सहारे ही हम सांसारिक सुख सुविधाओं को सहज ही प्राप्त कर परम सत्य परमात्मा को भी पा सकते हैं। अतः सत्य ही सर्वथा श्रेयस्कर है; सर्वथा सिद्धिदायक सदा ही परमोपास्य है।

(२) समत्वम् योग उच्यते।

(३) योगः कर्मसु कौशलम्।

(४) तं विद्यात् योगसंयोगवियोगं योग संज्ञितम्।

इस योग के लक्षणों के साथ ही शुद्ध बैठने के भी स्वरूप को बतलाकर, एकचित्त होकर, नासिकाग्र में दृष्टि स्थिर कर, इन्द्रियों का संयम करके ब्रह्मचर्य व्रत रखते हुए मुझ में मन लगाकर ध्यान में स्थित हो जावे। भोजन और निद्रा अल्प मात्रा में ही करे। तब योग सिद्ध हो सकेगा। परन्तु इन योग की परिभाषाओं से "योग-दर्शन" का स्पष्ट स्वरूप सामने नहीं आया। क्योंकि उस समय तुम्हें योग-साधना में लगा देना लक्ष्य नहीं था। हाँ योग के एक अंग ध्यान का अवश्य कुछ विशेष रूप से वर्णन किया था, जिससे तुम्हारा मन एक ही लक्ष्य में स्थिर हो जाय। और फिर हुआ भी वही, तब तो तुमने योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण जी के :—

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ !
त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञान संमोहः
प्रनष्टस्ते धनंजय ! ॥

कि हे धनंजय अर्जुन ! क्या तुमने मनको एक ही लक्ष्य में स्थिर करके, मेरे द्वारा कहा हुआ यह स्वधर्म प्रतिपालनात्मक उपदेश सावधानी से सुना है ? और क्या तुम्हारा कौटुम्बिक मोह जनित अज्ञान नष्ट हो गया है ?

विशेषता—

यहाँ ध्यान रखने की बात है कि भगवान् ने अर्जुन को "धनंजय" नाम से पुकार कर विशेष रूप से उनके पूर्व पुरुषार्थ की स्मृति दिलाकर, अपने ही क्षत्रियोचित कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो जाने के लिए सावधान किया है। क्योंकि पूर्व ही उपदेश काल में स्पष्ट कह चुके हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धिं लभते नरः।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः
परधर्मो भयावहः ॥

इस प्रकार पूछने पर कहा था कि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा,
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत संदेहः,
करिष्ये वचनं तव ॥

अर्थात् हे अच्युत, (भगवान्) ! आपकी कृपा से मेरा अज्ञान (मोह) नष्ट हो गया है। स्मृति प्राप्त हो गई है, संदेह चला गया है, अब मैं स्थिर हूँ (क्षत्रियोचित कर्त्तव्य पालन के लिए तैयार हूँ) आपकी आज्ञा पालन करूँगा। यहाँ अर्जुन के हृदय में "संभावितस्य चाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते" यह भगवान् का वचन गूँज रहा मालूम पड़ता है।

श्री देवर्षि नारद जी कौन्तेय अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तुम्हारी योग से सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्णजी ने तुम से योगी बनने के लिए ही कहा था—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद् योगी भवार्जुन॥

वह संस्कार आज फिर से जाग्रत हुआ है, इसी से तुम्हें योग तत्त्व जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई है। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण जी ने योगसाधना के प्रधान विघ्न की ओर देकर कहा था, कि पूर्ण रूप से मन को वश में न करने वाला योगाभ्यास की सफलता नहीं पा सकता। केवल मन को वश में रखने वाला ही, सावधानी से अभ्यास करते-करते योगाभ्यास की सफलता पा सकता है, ऐसा मत है—

असंयतात्मना योगो,
दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता,
शक्यो वाप्तुमुपायतः॥

( भग० ६ ३६ )

यहाँ भी भगवान् "असंयतात्मना" कह कर योग-साधना के अंगों की पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेने की आवश्यकता को बता रहे हैं, यहाँ पर आत्मा शब्द मन का वाचक है। शास्त्रों में आत्मा शब्द—जीवात्मा, मन, बुद्धि, शरीर, इन चार अर्थों में आया है, इसमें प्रसंग के अनुसार पाठकों को आत्मा शब्द का अर्थ जानना चाहिए।

हे अर्जुन! योग तत्त्व के विवेचन को सुनने से भी मानव का कल्याण हो सकता है, क्योंकि श्रवण के बाद मनन और मनन के बाद निदिध्यासन (आचरण करने का दृढ़ संकल्प) होता है, जिससे मानव कर्मयोगी बन कर योग के तत्त्व को प्राप्त कर, ब्रह्म साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है। तदनन्तर सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के आन्तरीय आनन्द को पाता है। जिस आनन्द को परमात्मा का धाम कहा गया है, वहाँ पहुँच कर फिर जीवात्मा सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते,
तद् धाम परमं मम।

हे अर्जुन! अब योग के तत्त्व को सुनो। चित्त की वृत्ति (चञ्चलता) का निरोध (रुक जाना) ही योगतत्त्व है। जैसा कि कहा है—

योगः चित्तवृत्ति निरोधः।

योगी लोग चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिए योग के निम्नलिखित ८ साधनों का दृढ़ अभ्यास करते हैं—(१) यम, (२) नियम, (३)

प्राणायाम, (४) प्रत्याहार, (५) धारणा, (६) योग (७) ध्यान, (८) समाधि। "नारदीय योग-दर्शन" के अनुसार उपरोक्त ८ अङ्ग योग के हैं और ये अङ्ग यथार्थ हैं, परन्तु वर्तमान "पातञ्जल योग-दर्शन" के अंगों में से (३) आसन अंग इसमें नहीं है। प्रत्युत (६) योगनामक अंग के द्वारा ८ अंगों की पूर्ति है। इस भेद पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि विचिकित्सा ( संशय ) रहने पर कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। "पातञ्जल योग-दर्शन" में आसन के सम्बन्ध में लिखा है कि—

स्थिर सुखम् आसनम्।

जिस प्रकार बैठने से कटि से ऊर्ध्वाङ्ग में किसी प्रकार का दुःख न हो, सुख का अनुभव होता रहे, उसे आसन कहते हैं। इस लक्षण से आसन के दो अर्थ हो जाते हैं—पहला तो यह है कि भूमि समतल हो और भूमि का आवरण भी मृदु और स्थूल हो तथा पृथ्वी के द्वारा शरीर की शक्ति के आकर्षण को रोक सके। दूसरा यह है कि कटि से अधोभाग को इस प्रकार स्थापित किया जाय जिसमें बहुत समय तक स्थिर रहकर ऊर्ध्वाङ्ग से क्रियायें की जायँ, परन्तु अधो भाग के ऊरु, जानु, जङ्घा, गुल्फ, पदाग्र में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की आवश्यकता न पड़े। यह स्थिति अभ्यास से होती है। इसमें कटि से अधो ऊरु आदि अंगों में शून्यता उत्पन्न होती है।

आसन के इन दोनों अर्थों से यह प्रतीति नहीं होती कि योगाभ्यास के लिए हठयोग में बताई गई पद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, भद्रासन, पर्यङ्कासन आदिक ही आवश्यक हैं। केवल ऊर्ध्व शरीर के स्थिर रहने की स्थिति को उत्पन्न करने के लिए ऊरु आदि अधो पदांगों के विन्यास को ही आवश्यक माना गया है। इसके लिए पृथ्वी का समतल होना, पृथ्वी के आवरण का मृदु तथा उपरोक्त प्रकार का होना, एकान्त तथा वायु का शुद्ध होना ही आवश्यक है। इसी से नारद जी ने आसन को योगांग नहीं माना है। क्योंकि योगांग तो शरीर, मन और इन्द्रियों से ही सम्बन्धित हो सकते हैं। अर्थात् इनकी चैतन्य शक्ति से ही सम्बन्धित होते हैं। जैसे यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि सम्बन्धित हैं। इसी बात को लक्ष्य करके ही श्री नारद जी ने आसन को त्याग कर "योग" को योगांग माना है। भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण जी ने भी इसी प्रकार आसन का निर्देश किया है—

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य,
स्थिरमासन मात्मनः।
नात्युच्छ्रितम् नाति नीचं,
चैलाजिन कुशोत्तरम्॥
उपविश्यासेन युंज्यात्,
योगमात्मविशुद्धये।

योगी युञ्जीत सततम्,
आत्मानं रहसि स्थितः ॥

योगाभ्यास में हस्त (जांघ) आदि अंगों का कोई विशेष उपयोग नहीं है, केवल मेरुदण्ड (रीढ़) को ही सीधा रहना चाहिए। जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद में भी कहा है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्

अर्थात् वक्षःस्थल, ग्रीवा ( गर्दन ) और सिर ये तीनों समान रेखा में ऊपर रखकर योगाभ्यास करे। यह स्थिति मेरुदण्ड ( रीढ़ ) के सीधे रहने पर ही बनती है, इससे योगाभ्यास के लिए शरीर का सम रहना ही आवश्यक है। चाहे किसी प्रकार से हो, क्योंकि योगाभ्यास में तो चित्त ( मन ) ही प्रधान कर्ता है, उसके स्थिर होने पर ही योग सिद्ध होता है। जब मन ध्यान में ध्येय से जुड़ जाता है, तब शरीर की स्थिरता भी न रहे तो भी ध्यान नहीं टूटेगा। जैसाकि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने अपने "रामचरितमानस" के आरण्यकाण्ड में श्री सुतीक्ष्ण मुनि की ध्यानावस्था के वर्णन में दर्शाया है।

कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करै गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक शरीर पनस फल जैसा॥

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।
जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान के लिए आसन की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जो ध्यान योगाभ्यास का सातवाँ अंग है, जिसके बाद ही समाधि की सिद्धि होती है। श्री नारद जी की स्थिति भी सुतीक्ष्ण मुनि के ही समान है। इसीसे उन्होंने अपने योग-दर्शन में "आसन" नामक योगांग को नहीं लिया है, हठयोगी आवश्यक मानते हैं। श्री देवर्षि नारद जी ने "आसन" के बदले में "ध्येय" को योगांग माना है, यह सर्वथा सिद्ध है। क्योंकि यदि कोई ध्येय ( साध्य, लक्ष्य ) सामने नहीं है तो ध्यान किसका किया जायगा? जब ध्यान ही शून्यका होगा, तब समाधि भी शून्य में ही होगी। फिर "सच्चिदानन्द" की भी स्थिति नहीं रही। ऐसी स्थिति में तो कौन्तेय अर्जुन को—

कच्चिन्नोभय विभ्रष्टः,
छिन्नाभ्र मिव नश्यति।

यह शंका ही सिद्ध हो गई। इससे 'ध्येय' का होना तो आवश्यक है, इसी से नारद जी ने "ध्येय" नामक अंग को ध्यान से पूर्व छठवें नंबर पर रखा है। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी "ध्येय" को योगांग मानकर ही ध्यान से पहले स्पष्ट कह दिया है कि—मन को संयमित करके, मुझे ( परब्रह्म परमात्मा )

लक्ष्य ( ध्येय ) बनाकर मुझ में ही चित्त को स्थिर कर योगाभ्यास में स्थित हो जावे—

मनः संयम्य मच्चित्तो
युक्त आसीत मत्परः ।

इसी प्रकार अर्जुन की शंकाओं का समाधान करते हुए भी "ध्येय" की आवश्यकता को अनेकों प्रकार से समझाया है:—

सर्वभूतस्थ मात्मानं,
सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा,
सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र,
सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि,
स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां,
भजत्येकत्व मास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोपि,
स योगी मयि वर्तते ॥
योगिना मपि सर्वेषां,
मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां,
स मे युक्ततमो मतः ॥

अर्थात् जो योगी अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखता है (जानता है), वही आत्मयोगी है ।

जो सर्वत्र जड़ चेतन में मुझको (ब्रह्म) को देखता है और सब जड़ चेतन को मुझ में देखता है, मैं उससे अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे अदृश्य नहीं होता । अर्थात् सर्वत्र वह योगी और मैं एक-दूसरे को देखते रहते हैं ।

जो योगी सब प्राणियों में मुझको देखता हुआ उनके साथ मेरा जैसा ही सम्मानयुक्त व्यवहार करता है वह तो सदा मेरे में ही समाया हुआ है, यही सायुज्य मोक्ष है ।

इस प्रकार से सभी प्रकार के योगियों में से जो योगी मुझमें अपने मन को (अन्तःकरण को) लीन करके श्रद्धा के साथ सभी प्राणियों में मेरा दर्शन करता हुआ, सभी प्राणियों की सेवारूपी मेरी सेवा करता है मैं उसे ही सबसे श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ।

इस विवेचन के द्वारा यह बात सिद्ध हो गई कि योगाभ्यास के आठ अंगों में "आसन" नामक अंग का होना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत "ध्येय" नामक अंग का होना अत्यावश्यक है । अब पाठकों (साधकों) के आगामी अगले लेखों में "भारतीय योग-दर्शन" के अनुसार ही योग के—१-यम, २-नियम, ३-प्राणायाम, ४-प्रत्याहार, ५-धारणा, ६-ध्येय, ७-ध्यान, ८-समाधि । इन आठों अंगों का विस्तृत विवेचन किया जायगा । जिसकी सफलता के लिए योगयोगेश्वर, अकारणकरुणा-वरुणालय, पूज्यपाद श्री १००८ श्री गुरुदेव जी के शुभाशीर्वाद की प्रतीक्षा करते सम्बल पाने के लिए श्रीचरणों में अहर्निश साष्टांग प्रणाम ही समर्पित कर रहा है ।

( क्रमशः )

# आशा-तृष्णा

[ श्री गोपालसिंह शर्मा "पौलस्त्य" ]

आशा करती सदा शिकार ।
तृष्णा संग सहेली लेकर होकर मोह सवार ॥
रूप सुहाना यौवन माया ? दो धारी तलवार ।
गंध स्पर्श रूप रस क्रीड़ा विष के बाण हजार ॥
पञ्चम स्वर की कोकिल बनकर, प्राकृत रूप निखार ।
मृग मन बाँध प्यार की फाँसी दे करती संहार ॥
अगन प्रतीक्षा की घड़ियों में दहके बन अंगार ।
भून-भून चिन्ता के शाण पर पी जाती जीवन सुख सार ॥
सुखकी झलक दिखाकर पलभर, करती एक व्यापार ।
मृग मरीचिका मरुथल की यह पूर्ण निराशा मार ॥
श्रम का शूल डाल सहसा उत्कण्ठा का खड्ग प्रहार ।
खींच खींच कर इच्छाओं से ले जाती मृत्यु के द्वार ॥

१—आपका दैनिक पौष्टिक पदार्थ जप और कीर्तन-युक्त शुद्ध मक्खन हो ।

२—आपका भोजन-पात्र मृदुता के मसाले, सचाई की चटनी, और प्रेम से पूरित हो ।

३—आपके हृदयोद्यान में साहस का पादप, समता की चमेली, और महानता का चम्पक लगा हो ।

४—आपकी औषध मंजूषा में भोग्याभोग्य विचार वटिका, मनोविकार-नियंत्रण टिकिया, आत्म संयम-सीकर और विश्वास भक्ति एवं सहनशीलता का मिश्रण हो ।

५—आपका अनवरत मादक पेय-पदार्थ सन्तों और महात्माओं की अमृत पूर्ण सूक्तियाँ हों । शङ्कर और दयानन्द के पीयूष सीकर का रसास्वादन करें ।

६—केन्सर सदृश्य असाध्य रोग के अवरोधार्थ रामायण, भागवत, और उपनिषदों का स्वाध्याय हो ।

७—आप सन्तोष का परिधान पहने और रात्रि को शान्ति का तकिया लगावें ।

— श्री महावीरप्रसाद शास्त्री

# भगवान गणपति का आधिभौतिक

एवं

# आध्यात्मिक स्वरूप

[ लेखक—श्री केशव उपाध्याय ]

भगवान् गणपति की पूजा का प्रचार लौकिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भारत के कोने-कोने में है। वेदों एवं पुराणों में भगवान् गणेश के भौतिक रूप एवं आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन भलीभांति किया गया है। वैसे तो जावा, सुमात्रा, चीन, जापान, बाली इत्यादि देशों में भी इनकी मूर्तियां एवं पूजा विधान आज भी उपलब्ध होते हैं। अपने देश गाणपत्य नाम का एक विशिष्ट सम्प्रदाय था, जिसमें भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले गणपति की उपासना विशेष प्रकार के फलों की प्राप्ति के लिए की जाती थी। यथार्थतः यह सम्प्रदाय तन्त्रयोग से सम्बन्धित था। अतः गणपति के अनेक स्वरूप एवं रंगों का वर्णन कुछ इस प्रकार से मिलता है। महागणपति का रंग लाल एवं भुजायें दस होती हैं। ऊर्ध्वगणपति तथा पिंगल गणपति का रंग पीला तथा भुजायें छः होती हैं। लक्ष्मी गणपति का रंग श्वेत होता है, भुजायें चार या आठ होती हैं। हरिद्रा गणपति का रंग हल्दी जैसा पीला, भुजायें चार एवं नेत्र तीन होते हैं। उच्छिष्ट गणपति का रंग लाल तथा भुजायें चार होती हैं। गणपति ही सर्व प्रधान देवता हैं। समस्त विघ्नों को समूल नाश कर देने की शक्ति विनायक श्री गणेश में विशेष रूप से विद्यमान है। प्रत्येक मंगल कार्य गृह-प्रवेश इत्यादि में भगवान् गणेश की ही जप-पूजा प्रचलित है। आज भी महाराष्ट्र में गणपति की उपासना बड़े धूम धाम से मनाई जाती है।

कुछ लोग भगवान् गणपति को वामेतर या अवैदिक देवता समझते हैं। यह उनकी अल्पज्ञता है। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल का यह सुप्रसिद्ध मन्त्र, भगवान् गणपति की ही स्तुति में किया गया है। देखें—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे<br>
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्॥<br>
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ,<br>
नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसी प्रकार

भगवान् गणपति की उपासना की गई है। यही नहीं, आगे चलकर बौद्ध धर्म में भी इनकी महिमा कम नहीं है। महायान के तन्त्र योगाचार्यों ने विनायक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। भगवान् बुद्ध को इसीलिये विनायक भी कहा गया है। नेपाल में बौद्ध-धर्म के साथ-साथ गणपति की भी पूजा प्रचलित थी। लगता है वहीं से खोतान, चीनी-तुर्किस्तान तथा तिब्बत में भी गणेश की पूजा का प्रचार-प्रसार हुआ।

वैदिक ऋचाओं के मंत्रोंमें भगवान् गणपति को महाहस्ती, एकदन्त, वक्रतुण्ड कहा गया है। गणपति शब्द का अर्थ है गणों का पति। 'गण' शब्द की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—"मनो वाणीमय सम्पूर्ण सृष्टि का वाचक 'ग' अक्षर है तथा 'ण' अक्षर मनोवाणी रहित रूप के ब्रह्म का बोध कराता है। अतः गणपति सगुण-निर्गुण ब्रह्म समुदाय के ईश हैं। यह व्याख्या मौद्गल पुराण में इस प्रकार वर्णित है :—

मनोवाणीमयं सर्वं
दृश्यादृश्यस्वरूपकम्।
गकारात्मकमेवं तत्,
तत्र ब्रह्म गकारकः।
मनोवाणी विहीनं च,
संयोगायोगसंस्थितम्।
णकारात्मकरूपं तत्,
णकारस्तत्र संस्थितः।

भगवान् गणपति का मुख हाथी का है। इसी से इन्हें गजानन, गजास्य नाम से भी पुकारा जाता है। इस प्रसंग का पुराणों में समुचित वर्णन मिलता है। परन्तु आध्यात्मिक रहस्य और अद्भुत है। भगवान् गणेश का ऊपरी भाग गजाकृत है, अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म। नीचे का भाग नररूप है, जिसका अभिप्राय लोक—सोपाधि ब्रह्म से है। 'गज' शब्द की व्याख्या साक्षात् ब्रह्म से की गई है। "समाधिना योगिनो यत्र गच्छन्तीति गः तथा यस्माद् बिम्ब-प्रतिबिम्ब तथा प्रणवात्मक जगत् जायते इति जः।" अर्थात् समाधि के द्वारा योगीजन जिसको प्राप्त होते हैं वह हुआ 'ग' तथा जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ वह हुआ 'ज'। अतः बिम्ब कारण होने से ब्रह्म 'गज' कहलाता है। इसीलिए भगवान् श्री गणेश स्वयं ब्रह्म स्वरूप हैं।

भगवान् गणपति का मनोहारी रूप का एक-एक अङ्ग प्रतीक रूप से आध्यात्मिकता का द्योतक है। मौद्गल पुराण में इस प्रकार का वर्णन किया गया है :—

एकशब्दात्मिका माया
तस्याः सर्वं समुद्भवम्।

भ्रान्तिदं मोहदं पूर्णं,
नानाखेलात्मकं किल।
दन्तः सत्ताधरस्तत्र,
मायाचालक उच्यते।
बिम्बेन मोहयुक्तश्च,
स्वयं स्वानन्दगो भवेत्॥
माया भ्रान्तिमती प्रोक्ता,
सत्ता चालक उच्यते।
तयोर्योगे गणेशोऽयमेक-
दन्तः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् भगवान् गणेशजी एकदन्त हैं तथा इस नाम के यथार्थ ज्ञान से उनके साथ अवश्य एका बनता है। 'एक' शब्द यहाँ माया का बोधक है तथा 'दन्त' शब्द सत्ताधारक, माया-चालक ब्रह्म का द्योतक है। अतः भगवान् गणपति सृष्टि के लिए साक्षात् माया को प्रेरित करने वाले सर्व-समर्थ परमब्रह्म हैं।

दूसरा नाम चतुर्भुज है इससे भी उपरोक्त कथन को ही समर्थन मिलता है। चतुर्भुज होने के कारण देवता, मानव, असुर एवं नागों की रक्षा भुजाओं में धारण किये हुए चार वस्तु—पाश, अंकुश, रद और वर दिया करते हैं। इसीलिए तो विघ्न-विनायक आपका नाम है। सृष्टि के रचयिता तथा अन्तकाल में समस्त विश्व को उदरस्थ करने वाले भगवान् गणेश, क्यों न लम्बोदर हों? आपके "शूर्प-कर्ण" नाम की सार्थकता इस प्रकार प्रति-पादित है :

शूर्पकर्णं समाश्रित्य,
त्यक्त्वा मलविकारकम्।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो,
भवेच्चैव तथा स्मृतः॥

अर्थात् जिस प्रकार से सूप से फटकने पर धान भूसे से अलग होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार ब्रह्म जीव रूप में, माया के साथ मिलकर मलावरण से इतना घिर गया है कि उसका यथार्थ रूप बिलकुल विस्मृत हो गया है। ऐसी अवस्था में सद्गुरु के मुख से निकला हुआ भगवान् गणपति का नाम एवं भावयुक्त मन, जब साधक के हृदयगत होकर ध्यान-प्रकाश प्रकाशित कर देता है। तब ही "शूर्प-कर्ण" की उपासना माया के कठिन बन्धन को काटकर जीव को चैतन्यात्मक ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भगवान् श्री गणेश जी का मूषक-वाहन होना भी उपयुक्त ही है :—

ईश्वरः सर्वभोक्ता च,
चोरवत्तत्र संस्थितः।
तदेवं मूषकः प्रोक्तो,
मनुजानां प्रचालकः॥
मायया गूढरूपः स,
भोगान् भुङ्क्तेहि चोरवत्॥

# सुख की खोज में

## भवन सूना ही रह जाता है।

[ श्री रामस्वरूप शास्त्री, हरियाणा ]

कितने प्रयत्न से अनेक कष्ट उठाकर कहीं से ईंट, कहीं से रोड़ा वाली कहावत चरितार्थ की। सीमेन्ट, लोहा, काष्ठ आदि खुले बाजार, कुछ काले बाजार से क्रय कर भवन बनाया। उत्तम से उत्तम कारीगर इस भवनको बनाने में लगे। हवादार खिड़कियां, संगमर्मर का फर्श, रंग-बिरंगी दीवालों की पुताई, बिजली के पंखे ठण्डा-गर्म रखने के लिए ऋतु अनुकूल कूलर लगाये। इस भवन को शोभा के लिए गद्देदार पलङ्ग, रेशमी परदे आदिसे सुशोभित किया। इस भवन को किसी प्रकार की कोई असुविधा न हो, इसमें रहने वालों को, इस दृष्टि से सभी साधन सुलभ करवाये गये। इस भवन में एक पग भी पैदल न चलना पड़े, सिंह द्वार पर हर समय कार का प्रबन्ध देश-विदेश के समाचार देखने तथा सुनने को मिलें, इसके लिए रेडियो दूर दर्शन, दूरभाष आदि का पूर्ण प्रबन्ध। पर क्या यह सुखदायक बना—जितना धन समय मस्तिष्क इसके बनाने में लगाया सब व्यर्थ—यह तो सूना ही रहने वाला है। यह तृष्णा का महल हवा के झोंके से गिरने वाला है। यह लोहा,

---

( पिछले पृष्ठ का शेष )

मूलाधार के परम तेजोमय ब्रह्म स्वरूप अधिष्ठाता भगवान् गणपति ऋद्धि-सिद्धि-संपन्न सदैव योग-साधकों के सहायक रहा करते हैं। योग-साधना में भौतिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक अन्तरायों का जड़मूल से विनाश विघ्न-विनायक में तद्रूप हो जाने पर ही होता है। जब साधक सप्त चक्रोंके मूल-मूलाधार में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि बल से ( जो कि सद्गुरु कृपा द्वारा साधक को प्राप्त होता है। ) अपने को भगवान् गणपति के सिवाय कुछ भी नहीं जानता। ऐसे साधक को आगे चलकर अन्य चक्रों के भेदन में कोई कठिनाई नहीं होती है। अस्तु ! गोस्वामी जी के निम्न दोहे के साथ ही हम सभी भगवान् विनायक की कृपा की याचना करते हैं—

जेहि सुमिरत सिधि होय,
गणनायक करिवर बदन।
करउँ अनुग्रह सोय,
बुद्धिराशि शुभ गुण सदन॥

पत्थर, कंकरीट सीमेन्ट कितना ही मजबूती से बना, पर यह एक आंख-मिचोनी है। क्या इसमें सुख है? हर अवस्था दुःख मूलक है। सम्पूर्ण संसार इसी भ्रममें पड़ा नाना यातनायें भोग रहा है।

बचपन—

सुकोमल शिशु—आह्लाद की मूर्ति, कवियों की वाणी जिसके स्वरूप का वर्णन करते नहीं थकती। वृद्ध भी अपने बाल्य की याद कर गद्गद् हो उठते हैं। क्या फिर बचपन लौटा, कितनी तृष्णा है इसमें, कोई बालक आपको संसार में ऐसा न मिलेगा, जो बालक ही बना रहना चाहता हो। प्रत्येक बालक बड़ा होने के लिए उत्सुक है, क्योंकि वह बालक है, अपनी उत्सुकता छिपाना उसे आता नहीं, कारण वह अबोध है। छल छिद्र से परे, यदि बालकपन में सुख है तो क्यों नहीं बालक-बालक बना रहता। बालपन से प्रौढ़ावस्था की ओर क्यों अग्रसर है।

अज्ञान—बालक में अज्ञान और असमर्थता न हो तो वह बालक नहीं। वह ज्ञान एवं सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता है। आप भी यह नहीं चाहेंगे कि बालक अज्ञ एवं असमर्थ बना रहे।

अबोध बालक और उसकी अशक्तता—

उसे प्यास लगी है रोता है, भूख लगी है रोता है, शरीर को मच्छर, चींटी काट रही है रोता है, किसी प्रकार की पीड़ा को व्यक्त करने के लिए रोता है। कारण असमर्थता—रोना ही उसका सहारा है। यही उसका जीवन है। रुदन सुनकर यदि माता दूध पिला दे या मक्खियाँ हटा दे तो उसकी कृपा, अन्यथा परवश माँ भी समय पर दूध नहीं पिला पाती तो रुदन ही उसका अवलम्ब है। मच्छरों की टोली अपनी मस्तीमें गीत गा-गाकर चुटकियाँ लेती है। उनकी देखा-देखी मक्खियाँ भी अपना राग अलापने लगती हैं, उन्हें उड़ाया नहीं जा सकता। माता न जाने क्या-क्या अटपटांग अपनी जिह्वा लोलुपता के कारण खा लेती है। उसका परिणाम भोगना पड़ता है। बालक को उससे शरीर में कष्ट होता है, पर कह नहीं सकता, कितनी व्याकुलता है। परवश शिशु अपनी असमर्थता के कारण केवल वही पुराना राग अलापता है और जोर-जोर से रोने लगता है।

कुछ दिन में वह बड़ा हुआ, परन्तु अल्पज्ञान दूसरों पर आश्रित माता-पिता यदि कुछ दे तो भोजन आच्छादन मिले, अन्यथा मनमसोस कर रह जाता है। अपने साथियों की विविध पोशाक आदि को देखकर अपने भाग्य को कोसता है। मन मचलता है वह ललचाता है, अभी वहाँ मेले वाला आया था, पर माँ की झिड़की ने परवश कर दिया। नाना प्रकार

की वस्तुएं लेकर बेचने वाले खोमचे वाले आवाज देते फिरते हैं। बच्चे उनके पीछे अपनी आशाओं को लिए घूमते हैं। कोई-कोई भाग्यशाली मां की कृपा से उन्हें प्राप्त कर लेता है। पर दूसरे उसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं परवश जो ठहरे। इस अज्ञान या पराधीनता का नाम तो सुख नहीं, ऐसी परवशता कौन चाहेगा ?

बालक युवा हुआ:—उत्साह साहस और शक्ति का संचय हुआ उसमें। क्या वह युवक सुखी है। क्या युवावस्था सुख की अवस्था है। कामनाओं की अग्नि हृदय में प्रज्वलित हो उठी। वासनाओं की आंधी ने नेत्र बंद कर दिये। अक्खड़ से आंखें चौंधिया गयी। काम, क्रोध ने शरीर को अपना घर बना लिया। मूछों पर ताव दे दूसरों को यातनाएं देने लगा। अहंकार के मद में दिन-रात अविश्रान्त चक्कर काटने लगा। वासना, असन्तोष, अहंकार ने मदहोश बना दिया। चिन्ता-भय निराशा द्वेष आदि ने हृदय को अपने पाश में बांध लिया।

क्या युवावस्था को सुखी जीवन कहा जाय। युवक वृद्ध हुआ अनुभव परिपक्व हुए, ठोकरें खाते खाते आचरण व्यवस्थित हुए, समझ आने पर कुछ करने की बात समझ में आई अनुभव युक्त श्वेत केश आदरणीय हुए, अनुभव कुछ काम नहीं आता समझ आई उसका आना बेकार फायदा। कार्य करने की शक्ति रही नहीं तब उसका आना बेकार ही गया। शरीर को रोगोंने आ घेरा आंख, नाक, कान, दाँत, हाथ, पैर आदि इन्द्रियां अशक्त हो गई धुंधला दीखने लगा, कान से सुनाई नहीं देता, नाक निरन्तर बहती है, हर समय नाक पर रूमाल रखने की आदत बन गई, पास में बैठने वालों को भी घृणा होने लगी, दन्त गिर गये भोजन का स्वाद जाता रहा। हाथ पैरों में शक्ति नहीं कि जवानी की तरह लट्ठ उठा कार्यरत हो तब यह अनुभव विचार योग्यता किस काम की जिससे किसी का कोई लाभ नहीं, खाट में पड़े-पड़े मुंह चिढ़ाने के सिवाय चारा ही क्या है। बच्चे आते हैं दौड़ जाते हैं कोई इधर देखता भी नहीं, जिन स्त्री के लिए अपने जीवन का सर्वस्व वारा वह नाक पर कपड़ा रख दूर से ही आंखें बन्द कर निकल जाती है। जिन सन्तानों के लिए दिन रात झूठ सच बोल कर अनेक कष्ट उठाकर धन जोड़ा अपना पेट काट कर उनका पेट भरा स्वयं भूखा रहकर अपनी आंतों में गांठ देकर उनके पेट की ज्वाला को शान्त किया। पढ़ाया लिखाया सब योग्य बनाया पर सब दूर से ही दुत्कार रहे हैं। या दुख — अशक्ति पीड़ा और चिन्ता को छोड़ बुढ़ापे में और है क्या। शरीर रोगों से जर्जरित है, मन अपनी असमर्थता से पीड़ित है। लोग तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। चतुर्दिक दुःख ही दुःख, तब बतलाइये बुढ़ापे में क्या सुख है।

**शरीर का अन्तिम परिणाम—**

यह है मृत्यु जिसका नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्वेच्छा से कोई मरना नहीं चाहता। बचपन दुःखमय, युवा दुःखी, वृद्धावस्था दुःखमय, सब दुःख झेलते हुए भी यह कायर स्वेच्छा से मृत्यु का वरण नहीं करता। यह तो स्वयं बिना बुलाये महमान के समान आ धमकती है और यह भवन जिसे बड़े चाव से परिश्रम से बनाया था—सूना पड़ा रह जाता है।

**जन्म और मृत्यु—**

जीवन का प्रारम्भ घोर कष्ट में हुआ और कष्ट में ही सम्पूर्ण जीवन बीता। रोता आया रोता चला, रोते-रोते जीवन-चक्र भ्रमर के समान चलता रहा। अन्त में रोते-रोते ही इस भवन को छोड़ा। क्या कहीं सुख का लवलेश-मात्र मिला—उत्तर में नहीं के सिवाय कुछ नहीं?

योगिराज श्री शुकदेव जी श्रीमद्भागवत में लिखते हैं कि—

आ इस भवन का मोह त्याग सद्गुरु की शरण में आ, यदि सत्य साक्षात् सुख की चाह है। अन्यथा इसी प्रकार लख चौरासी का चक्कर काटता रहेगा और यह भवन सूना ही रहेगा।

सत्यं-शिवं-सुन्दरम्।

## —० मुक्त कौन ? ०—

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः।
अमानी निरभिमानः सर्वतो मुक्त एव सः॥
जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते॥

( महाभारत शान्ति० १६/२-४ )

जो सबका मित्र, सब कुछ सहने वाला, मनोनिग्रह में तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोध से रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियों के प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पाने की इच्छा नहीं है तथा जो अभिमान से दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है। जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वों को समभाव से देखता है, वह मुक्त हो जाता है।

# ० योनियाँ कर्म वासनाएँ एवं योग ०

[ श्री राजेन्द्र पाठक, गोरखपुर ]

इस विराट सृष्टि के पूर्व जब भगवदिच्छा रूपी माया का लय हो गया था तब सभी आत्माओं का स्वामी भगवान एक ही था। द्रष्टा दृश्यात्मक नाना बुद्धि से वह लक्षित नहीं होता था। उस समय एकराट की दृष्टि सुप्त नहीं थी लेकिन शक्ति सुप्त थी। उस द्रष्टा की वह शक्ति सदसदात्मक है, जिस शक्ति से उस विभु ने इस प्रपंच की सृष्टि की, उस शक्ति का नाम माया है।

जानकारी 'अमृत सिद्धयोग' के अन्तर्गत अभि-वात्मक भाव पूर्णरूपेण जीवेश्वराधीन है किन्तु जीव आत्मा तथा परमात्मा (भगवान) के व्याहृतियों को न जानकर प्रकृति के गुणों में आसक्त होता है। इससे गुणों में अभिमान के कारण वह सात्विक, राजस तथा तामस कार्यों को विवश होकर करता है और उन्हीं कर्मों के अनुसार शरीर को भी (गर्भ प्रवेश, वहाँ वृद्धि, जन्म, बाल्य, कौमार, तारुण्य, मध्यमावस्था, जरा और मृत्यु) अवस्थाओं के साथ उत्पन्न होता है किन्तु अरात्मक संस्कारोद्भूत जीव नहीं स्वीकार करना चाहता है। ये सब मनोरथमय अवस्थायें देह की हैं लेकिन प्रकृति पुरुष (पुरी शेते इति पुरुषः—अंगुष्ठमात्रो वै पुरुषः मध्ये हृदि यः तिष्ठति) विवेक ज्ञान न होने के कारण कोई अपनी ही समझता है कोई-कोई विवेक ज्ञान होने के कारण छोड़ता भी है जन्म-मरण देखने वाले विद्वान उससे अलग है इस (जीव) प्रकृति से अपने को पृथक न समझकर उससे मोहित हो संसार में चक्कर मारता है—सात्विक कर्म से अत्यन्त प्रकाशयुक्त लोकों को प्राप्त कर ऋषि और देवयोनि में एवं राजस से मनुष्य और आसुरी योनि में परिश्रम तथा अन्त में दुःख प्राप्त करता है तथा तामस से भूत तथा तिर्यक योनियों में अज्ञान और शोक प्राप्त करता है।

सत्वसङ्गादृषीन्देवान्
रजसाऽसुरमानुषान् ।
तमसा भूत तिर्यक्त्वं
भ्रामितो याति कर्मभिः ॥
(महापुराण १०/२२/५१)

तथा च—

योनिं मन्ये प्रपद्यन्ते
शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणु मन्येऽनुसंयन्ति
यथा कर्म यथाश्रुतम् ॥
(कठोपनिषद् वल्ली २ अध्याय २ श्लोक ७)

फलन्वित कर्मों के प्राकट्य का संकलन ही प्रत्येक योनियों का प्रमुख शोभिमान कारण है जिसका आकलन समस्त विषय वासनाओं के चौरासी चक्कर में दृष्टिगत नहीं होता। त्रिगुणात्मक भाव जो प्रत्येक योनियों में सन्निहित है अवसर पाकर कर्मों की पुष्टिकरण के रूप में परिलक्षित होता है जीव में जिस भावना का निर्णीकरण होता है उसी प्रकार का तिरोहित गुण उसमें पूर्ण वेग के साथ संचरित होकर तदनुकूल कार्यों को करने के लिए विवश करता है क्योंकि भावनाओं का नर्मोदकार्य तद्-तत् कर्मों का संगति से उत्पन्न होता है—सत्व, रज, तम ये तीनों माया के ही गुण हैं आत्मा के नहीं उन गुणों का एक अंश क्षय या वृद्धि नहीं होती जिसके कारण सतोगुण कर्म में तल्लीन जीव तमोगुण से उसी समय आवृत नहीं होता।

सत्वं रजस्तम इति
प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
न तेषां युगपद्राजन्
ह्रास उल्लास एव वा ॥
(महापुराण ७/७)

सभी कर्म तत्पर जीवों के वांछित सुख की और दुःख की हानि के लिये होते हैं। परन्तु कामना से प्रेरित होकर कर्म करने से उनसे सदा केवल दुःख ही उठाने पड़ते हैं। जीवात्मा कामना शून्य अवस्था में सुखी रहता है। कामनाओं के कारण ही वह दुःख पाता है। दुस्तर प्रवृत्ति मार्ग में प्रकृति के कारण प्रवृत्त होकर सत्व, रजस्तम से विभक्त कर्मों को कर्तव्य समझने के कारण ही (सुख के लिए भटकते हुए फिर) जीव संसार रूपी अरण्य में फँसता है, लेकिन सुख नहीं पाता। इस संसारारण्य में कुत्सित बुद्धि नामक जिसका नायक है, ऐसे इस समूह को काम क्रोधादि छः चोर जबरदस्ती लूटते हैं। अतः तन्मयान्तर्गत भावों के प्राप्तान्ततः कर्मविहित्याविधियों से जन्म प्राप्त करता है।

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो,
रजस्तमः सत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्-
वाटवीं याति न शर्म विन्दति ।
(महापुराण ५/१३)

जन्मादिमन्त योन्यान्तर्गत प्रत्येक कर्मशील प्राणी गुणोंसे युक्त रहते हैं, इसलिए शुभ और अशुभ कर्म सबसे होते हैं। कोई प्राणी बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता, प्रत्येक प्राणी के स्वाभाविक गुण ही उससे द्वारा (हठात्) कर्म को कराते हैं, अदृष्ट कार्य को प्राप्त कर प्रबल कर्म-वासना रूपी स्वभाव द्वारा जीव-जीवान्तर संसर्गानुरूप ही स्थूल सूक्ष्म देह उत्पन्न होता है। इस प्रकृति के तीन

से पुरुष की उल्टी भावना होती है। यह भावना भगवत् के भजन से ही जल्दी नष्ट होती है।

नहि कश्चित्क्षणमपि,
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः
स्वाभाविकैर्बलात्॥
लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं,
व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।
यथायोनि यथाबीजं,
स्वभावेन बलीयसा॥
एष प्रकृति संगेन,
पुरुषस्य विपर्ययः।
आसीत्स एव नचिरादीश,
संगाद्विलीयते॥

( महापुराण ५/१ )

अपि च :—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य,
विसृजामि पुनःपुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्न-
मवशं प्रकृतेर्वशात्॥

( गीता ९/८ )

अतः समस्त जीव जन्म, मरण, कर्म, शोक, मोह, भय, सुख और दुःख—इनके लिए उस अव्यक्त भगवान से दिये गये (कर्मानुसार) शरीर को धारण करते। उनके देहधारी सभी डालने में सत्वादि गुण और उनके कारण होने वाले कर्मरूपी बन्धनों से हम सब जीव (कुम्हार द्वारा चलायी, कर्म तल्लीन चक्की की भांति) उसकी इच्छा से कार्य करते हैं, किन्तु आत्म-तत्त्व का विचार न करने वाले अज्ञान (देहादि) के कारण 'आत्मस्वरूप' ढका रहता है, जिससे वह सांसारिक कर्मों को विवेक शून्य होकर करता है। जब तक जीव कर्म करता है, तब तक यह मन भी कर्मात्मक रहता है, जिसके कारण वह देह बन्धन है। जब आत्मा अविद्या से आच्छादित रहता है, तब मन जीव को दुष्कर्म में प्रवृत्त कराता है, किन्तु ईश्वर-भक्ति-भाव से ये विकार समस्यी-भूत नहीं होते। मन ही गुणागुणों के भी प्रत्य-कनिष्ठत्व का कारण है। मन की (पंच कर्मा-त्मक-ज्ञानात्मक एवं अभिमानैकात्मक वृत्तियाँ) ही आत्मा की उपाधिभूत सांसारिक पीड़ाओं का स्रोत है। सभी देव मन के वश में हैं मन किसी के आधीन नहीं है। प्रबल मन ही गुण वृत्तियों को उत्पन्न कर सात्विकादि गुणों से युक्त विलक्षण कर्मों की सृष्टि करता है। इस अमुख्य वेगवान् शत्रु के न जीतने से ही मिथ्या संसार में मित्र, उदासीन और शत्रु हुआ करते हैं। अतः मन का रोकना ही परम योग है यही समाधि है।

## योगो मनसः समाधिः

जिस अवस्था में उक्त इन्द्रियां शब्द, स्पर्श

रूप, रस, गन्धादि विषयों को ग्रहण नहीं करतीं तथा मन भी स्थिरता प्राप्त कर लेता है और यह लोक विचारिणी बुद्धि भी ज्ञान का काम नहीं देती, किन्तु केवल आत्मा का ही सामर्थ्य द्वारा निर्दिष्ट हो जाता है। मननशील ज्ञानी पुरुष इसको मुक्तावस्था में निःश्रेयस प्राप्त करते हैं। ( अतः योगश्चित्तवृत्ति निरोधः )

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते,
ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति,
तमाहुः परमागतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते,
स्थिरामिन्द्रियधारणाम्॥
अप्रमत्तस्तदा भवति,
योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

( कठोपनिषद् २/३/१० )

मन, बंध और मोक्ष दोनों तरफ दौड़ता है, यह ईश्वर की माया है जो मुक्ति से परे है, उसी के कारण तर्क विरुद्ध होने पर मुक्त जीव ( आत्मा ) देह गुणों के मिथ्यारोप से बन्धन में है। पुरुषार्थभूत आत्मा ( जीव ) का जिस-जिस अज्ञानजन्य अनर्थरूप संसार होता है उसका नाश तो एकमात्र भगवान् ईश्वर में परम भक्ति से होता है। जठराग्नि भक्षित जैसे अन्न को जीर्ण करती है, उसी के समान ईश्वर की भक्ति लिंग शरीर को ( क्षीण कर ) पवित्र करती है। इस भक्ति शिक्षणान्तर्गत जितेन्द्रिय एकान्तिक भक्ति योग अविच्छिन्नरीति से वैराग्य तथा ज्ञान उत्पन्न कराता है। अतः स्थिर अविकृत मन से एवं वेद विहित कर्म विषयक इन्द्रियों की निष्काम वृत्ति से युक्त, सत्वरूपी भगवान् में स्वाभाविक भक्तियोग अत्यन्त ही ( मुक्ति से भी ) श्रेष्ठ है।

वासुदेवे भगवति,
भक्तियोगः समाहितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं,
ज्ञानं च जनयिष्यति॥

( महापुराण ४/२६ )

अनिमित्ता भगवती,
भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं,
निगीर्णमनलो यथा॥

( महापुराण ३/२३ )

भक्ति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी।
जिमि सो असन पचवै जठरागी॥
असि हरि भक्ति सुगम सुखदायी।
को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

( रामचरितमानसोत्तर काण्ड )

अतएव—

योगी युञ्जीत सतत-
मात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा,
निराशीरपरिग्रहः ॥
( गीता ६/१० )

सर्वेश्वर अनादि अविद्या से किये गये कर्मों के परिणामस्वरूप भगवान की मायिक लीलायें जीवात्मा के अनुग्रह के लिए होती हैं उन्हीं लीलाओं की निवृत्ति ही जीव के मोक्ष का कारण है। इस प्रकार संसार में जिन कर्मों से निवृत्ति होती जाय उन्हीं कर्मों का पुरुषार्थ धर्म ही कल्याण कारक तथा शोक, मोह और भय को दूर करने वाला है। भगवान परमात्मा में जो अनन्तानन्द तथा समस्त शक्तियों से युक्त है—परम भक्ति करके, 'मम-अहम्' इत्याकारक उत्पन्न हुई अज्ञान रूपी ग्रन्थी को नष्ट करना एवं शारीरिक इत्यावगाहोद्भूत अत्यन्त क्रोध तथा मायिक बन्धन को आत्म-विचार द्वारा शान्त कर लेना योगात्मक दुरूह शिखर के कठिनतम सूत्र हैं। ये मनोगत भाव गुण की वैषम्यता के कारण जीव में उद्भूत हों या न हों किन्तु भक्त्यागत भाव आत्मा में पूर्ण रूप से वेष्ठित रहता है। इसी कारण वह दुष्कर्मों में प्रवृत्त मन को अंकुशित करता है। अतः सभी प्राणियों को अपनी आत्मा ही अधिक प्रिय होता है—स्त्री, पुत्र [पुं नाम नरकम् त्रायति यः सः पुत्र] [आत्मा वै पुत्र नामासी] आत्मा एवं जायते पुत्र आदि], तथा धनादि पर जो प्रेम होता है वह इसलिए कि जीव-आत्मा को आनन्द मिलता है किन्तु जो इनमें ममत्व का अभिमान नहीं रखता वह अजेय ईश्वर को भी जीत लेता है—

अब्राह्मणं स्वधर्मार्थे-
हन्याद् वा पितरं गुरुम् ।
तथा स्वलं स्त्रियं,
अब्राह्मणेन कजितो जितः ।
( महापुराण ६/१४ )

ममत्व-निवृत्ति के कारण ही जीव को संसार के समस्त पदार्थों से ज्ञान की परिपक्वावस्था प्राप्त होती है, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्व, प्रकृति, मन, इन्द्रियों के विषय, उनके अभिमानी देवता—ये सब जगत के जितने इन्द्रिय विषय हेतु हैं—सभी ईश्वर के अंशभूत हैं अतः इनसे ज्ञान होना कोई विशेष बात नहीं है। अतएव समस्त सांसारिक वस्तुओं का ममत्वाभिमान से शून्य सुखात्मक एवं दुःखात्मक भावाभाव निर्विशेषयोगानुभव ( ईश्वरीय ) ज्ञान ( वैराग्य ) के लिए है, इसलिए उद्धृत सूत्रोक्त भावनाओं के अनुसरण से ही विद्वत्विकृत योनियों का निष्किलोपादान साधारण अवश्यम्भावी है।

अन्तकाले च मामेव,
स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं,
याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भावभावितः ॥
( गीता ८/५, ६ )

# भावों की उत्तमता

[ श्री लक्ष्मणस्वरूप शर्मा, शामली ]

मनुष्य को अपने हृदय का भाव उत्तम से उत्तम बनाना चाहिए। हृदय का भाव स्वच्छ एवं उत्तम होने पर मानव की सारी चेष्टायें अपने-आप होने लगती हैं। इसके विपरीत उत्तम से उत्तम कर्म भी भाव-दूषित होने के कारण निम्न श्रेणी का बन जाता है। एक मनुष्य यज्ञ, दान, तप, देवताओं की उपासना आदि का अनुष्ठान—यदि अपने शत्रु को मारने या पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से करता है, तो उसके वे यज्ञ, दान, तप, उपासना आदि अनुष्ठान यद्यपि शास्त्रविहित होने से स्वरूपतः सात्विक हैं फिर भी दूसरे का अनिष्ट करने का दुर्भाव होनेके कारण तामसी हो जाते हैं और 'अधो गच्छन्ति तामसाः', इस न्याय के अनुसार ऐसे मनुष्य अधोगतिः यानी कीट-पशु आदि को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार बर्तन मांजना, झाड़ू देना आदि सेवारूप कर्म निम्न श्रेणी के होने पर भी निष्काम भाव से किये जाने पर, करने वाले का भाव उत्तम होने के कारण सात्विक हो जाते हैं और 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' के अनुसार वैसे कर्म करने वाले मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। अतः समझना चाहिए कि क्रिया की अपेक्षा भाव प्रधान है।

यज्ञ, दान, तप, रूप क्रिया की अपेक्षा भी भगवान् के नाम का जप और उनके स्वरूप का ध्यान रूप क्रिया उत्तम है। अपितु यह क्रिया सात्विक होने पर भी सकाम भाव से की जाय तो राजसी बन जाती है। इसी प्रकार यज्ञ, दान, स्वरूप क्रिया, जप-ध्यान की अपेक्षा निम्न श्रेणी की होने पर भी यदि फल और आसक्ति का त्याग करके निष्काम भाव से की जाय तो परम शान्तिरूप परमात्मा की प्राप्ति करा सकती है। इसलिए जप-ध्यान से भी वह श्रेष्ठ मानी गई है। भगवान ने श्री गीता में भी कहा है—

ध्यानात् कर्मफलत्यागः
त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।

भावार्थ ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है। उत्तम क्रियायें और भाव कौन-कौनसे हैं? नमस्कार करना, स्नान

करना, धर्म के लिए कष्ट सहना आदि शरीर की क्रियायें हैं। तीर्थ-यात्रा करना पैरों की क्रिया है, यज्ञ और दान देना हाथ की क्रियायें हैं। श्री गीता, भागवत, रामायण आदि सद्-ग्रन्थों का पठन-पाठन करना वाणी की क्रिया है। देवताओं और महात्माओंका दर्शन करना नेत्र की क्रिया है, भगवान के गुण, प्रभाव तत्त्व-रहस्य को सुनना कानों की क्रिया है, भगवान के नाम, चरित्र और गुणों का मनन और चिन्तन करना तथा भगवान के स्वरूप का ध्यान करना मन की क्रियायें हैं एवं किसी आध्यात्मिक विषय का निश्चय करना बुद्धि की क्रिया है, ये सभी उत्तम क्रियायें हैं। इन सब उत्तम से उत्तम क्रियाओं की अपेक्षा भी हृदय का उच्च भाव सर्वोत्तम है।

श्रद्धा, प्रेम, दया, क्षमा, शान्ति, समता, सन्तोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, निर्भयता, आस्तिकता, पवित्रता, निष्कामता आदि—ये सब हृदय के उत्तम ही भाव हैं। ये सभी आत्माका उद्धार कर अपने शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में लय होती हैं। जिस क्रिया के साथ इनका संयोग हो जाता है, वह क्रिया भी उत्तम से उत्तम बन जाती है। मनुष्य को चाहिए कि उपर्युक्त भावों को ईश्वर की कृपा के प्रभाव से अपने हृदय में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए देखता रहे। इस प्रकार देखने वाले की उत्तरोत्तर उन्नति होती चली जाती है। हृदय के भाव उत्तम होने पर मनुष्य के आचरण सुधारने के लिए कोई अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके दुर्गुण-दुराचारों का अपने आप ही अभाव हो जाता है; क्योंकि जहाँ पवित्र प्रेम होता है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं। जहाँ दया है, वहाँ हिंसा के लिए स्थान नहीं, जहाँ क्षमा है, वहाँ क्रोध नहीं रह सकता। जहाँ समता है, वहाँ विषमता कहाँ? और जहाँ शान्ति है, वहाँ विक्षेप असम्भव है। इसी प्रकार अन्य सभी भावों के विषय में समझ लेना चाहिए।

जब हम किसी के साथ व्यवहार करें, उस समय हमें उसके साथ प्रेम, विनय, निरभिमानता उदारता और निष्काम-भाव आदि से युक्त होकर कुशल व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार करने पर क्रिया स्वतः स्वाभाविक ही उत्तम से उत्तम बन जाया करती है।

भाव का बड़ा भारी महत्त्व है। एक तो वास्तव में भगवत्प्राप्त महापुरुष है और दूसरा एक उच्च कोटि का साधक सच्चा जिज्ञासु है, वह जिज्ञासु जब महात्मा को पाकर उनको तत्त्वसे जान जाता है, तब वह भी उसी प्रकार तुरन्त महात्मा सदृश बन जाता है। जिस प्रकार वास्तविक पारसमणि के साथ स्पर्श होते ही लोहा तुरन्त सोना बन जाता है। यदि वह सोना न बने, तो समझ लेना चाहिए कि या तो वह पारस नहीं है, कोई पत्थर है, या वह लोहा लोहा नहीं है, लोहे का मैल है, अथवा उन दोनों के बीच काष्ठ, वस्त्र आदि का किसी तीसरे पदार्थ का व्यवधान है। इसी

प्रकार यदि महात्मा का संग जिज्ञासु श्रद्धा-भाव, श्रद्धालु, शास्त्रविहित नहीं है, अथवा जिज्ञासु में किसी संशय, भ्रम आदि का व्यवधान है, तो निश्चय ही कल्याण-पथ में एक रोड़ा है।

वास्तव में पारस की तुलना भी महापुरुष के लिए उपयुक्त उदाहरण नहीं है, क्योंकि महापुरुष तो पारस से भी बढ़कर है। किसी कवि ने कहा भी है—

पारस में अरु संत में,
बहुत अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करै,
वह करै आप समान॥

अभिप्राय यह है कि पारस लोहे को सोना बना सकता, किन्तु महात्मा तो जिज्ञासु को अपने समान महात्मा बना सकता है।

प्रथम तो ज्ञानी तथा ब्रह्मलीन महात्माओं का मिलना ही दुर्लभ है और यदि सौभाग्य से वैसे महात्मा मिल जावें तो उनको तत्त्व से पहचानना कठिन है। तत्त्वसे जानने के पश्चात् ही उनमें श्रद्धा होकर तुरन्त ही परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। बिना पहचाने तो भगवान् के दर्शन से भी कल्याण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए—दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्ण को यथार्थ रूपसे नहीं जानता था, पर अश्रद्धा के कारण उसका उनमें दुर्भाव था। अतः वह उनका दर्शन करके भी उनसे मिलने वाले यथार्थ लाभ से वंचित रहा। इधर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण जी को यथार्थ रूप से श्रद्धा-भाव, प्रेम-पूर्ण चित्त में समझ चुके थे, इसीलिये वे भगवान् के परम-धाम में चले गये। भगवान् के प्रति जिसका जैसा भाव होता है उसी के अनुसार उसे लाभ होता है। दुर्योधन भगवान् की एक अक्षौहिणी सेना लेकर ही सन्तुष्ट हो गया, किन्तु अर्जुन ने तो भगवान् का ही वरण किया। इसमें केवल भाव ही प्रधान है। भगवान् श्रीकृष्ण योगयोगेश्वर जिस समय कंस के धनुष-यज्ञ में पधारे, उस समय वहाँ जिसकी जैसी भावना थी तो उसी के अनुसार उनको वे दीख पड़े। श्रीमद्भागवत में आया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति
विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलराम जी के साथ रङ्ग-भूमि में पधारे, उस समय वे पहलवानों को वज्र के समान कठोर-शरीर, साधारण मनुष्यों को नर-रत्न, स्त्रियों को

कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दण्ड देने वाले शासक, माता-पिता को शिशु, कंस की मृत्यु (बड़े भयङ्कर) योगियों को परम तत्त्व और भक्त-शिरोमणि वृष्णि वंशियों को साक्षात् अपने इष्टदेव जान पड़े।

श्री तुलसीकृत रामायण के बालकाण्ड में भी धनुष-यज्ञ के समय भगवान् श्री रामजी के सम्बन्ध में यही बात कही गई है—

> जिन्ह के रही भावना जैसी।
> प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

भगवान् को जो पुरुष जिस भावसे देखता है, भगवान् उसके लिए वैसे ही है। श्रीगीता में भगवान् के वचन—

> ये यथा मां प्रपद्यन्ते,
> तांस्तथैव भजाम्यहम्।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते,
> मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

हे अर्जुन! जो भक्त मेरे को जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसेही भजता हूँ। इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान मनुष्यगण सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार चलते हैं।

भगवान् तो दर्पण की भांति हैं। मनुष्य जिस रूप एवं आकृति को लेकर दर्पणके सम्मुख होता है, वह उसमें वैसा ही दीखता है। इसी प्रकार जिसके मन का जैसा भाव होता है, वैसा ही भगवान में प्रदर्शित होता है। सूर्यदेव सब जगह समान हैं अर्थात् सबको समान भाव से प्रकाश देते हैं, किन्तु दर्पण में उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, काठ में नहीं, और सूर्यमुखी शीशा तो उनकी रोशनी को लेकर कपड़े, रुई आदि को जला देता है, किन्तु साधारण शीशा नहीं जला सकता। इसमें उस सूर्यमुखी शीशे की ही विशेषता है, सूर्य का प्रभाव तो सब जगह समान ही है। इसी प्रकार भगवान तो सब जगह समान ही रूप से मौजूद हैं, अपितु मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति से उनसे अधिक से अधिक आनन्द लाभ उठा सकता है।

अतः अपना भाव उत्तम से उत्तम बनाना आवश्यक है। सबको उत्तम भाव से देखने पर देखने वाले को भी लाभ है, और जिसको देखा जाता है, उसे भी लाभ है, इसी प्रकार दूसरे को दुर्भाव से देखने पर देखने वाले को भी हानि है और जिसे देखा जाता है, उसको भी हानि है। यदि हम अपने लड़के, छात्र, या नौकर के लिए यह कहते हैं कि यह नीच है, दुष्ट है, और इस प्रकार समय-समय पर उनके दुर्गुण दुराचारों की चर्चा करते हैं तो इससे उन छात्र, बालक और नौकर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। और वे हम से विमुख या उपरत हो जाते हैं एवं वे उस भाव से भावित होकर निम्न श्रेणी के बन जाते हैं। अतः इस तरह कहने और सुनने वाले—दोनों को ही बिना हानि के कोई लाभ नहीं है। ऐसे व्यव-

हार से दोनों का ही पतन है। दूसरे उत्तम व्यवहार से—जिसके साथ उत्तम व्यवहार किया जाता है, वह भी सुधर सकता है। एक व्यक्ति विश्वास पात्र नहीं है और उसका हम विश्वास करते हैं तो दिन पाकर वह विश्वास-पात्र बन सकता है, क्योंकि वह समझ लेता है कि ये मुझ पर विश्वास करते हैं तो मुझे इनके विश्वास के अनुसार ही रहना चाहिये। इस प्रकार हमारे उत्तमभाव से उसका और हमारा दोनों का उत्थान होना सम्भव है। अतः हमें सबको उत्तम भाव से ही देखना चाहिए।

सर्वोत्तम भाव तो यह है कि सब कुछ परमात्मा का स्वरूप है। जैसे स्वप्न में मनुष्य जिस संसार को देखता है, वह उसके मन का संकल्प होने के कारण उससे अभिन्न है, इसी प्रकार यह सारा संसार भगवान् का संकल्प होने के कारण उनसे अभिन्न है अर्थात् भगवत्स्वरूप ही है। इस भाव से देखने वाला मनुष्य उच्चकोटि का माना जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है—

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**
**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**

(गीता ७/१९)

बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा दुर्लभ है। यह सर्वोत्तम भाव है। ऐसा न हो तो दूसरा उत्तम भाव यह है कि सबमें सब जगह वह भगवान् व्यापक है। भगवान कहते हैं—

**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**

मुझ निराकार परमात्मा से सम्पूर्ण जगत जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है। 'यो मां पश्यति सर्वत्र'—जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है। श्रुति भी कहती है—

**ईशावास्यमिदं सर्वं,**
**यत्किंच जगत्यां जगत्।**

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जगत् है, वह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। इन उद्धरणों से यह समझना चाहिए कि जैसे बादलों में आकाश व्यापक है, वैसे ही भगवान् सबमें व्यापक है। अतः सबकी सेवा ही भगवान् की सेवा है और सबका आदर करना ही भगवान् का आदर करना है, यह भाव भी उत्तम है।

यदि ऐसा भाव भी न हो तो सब भगवान् के भक्त हैं या सब भगवान् की प्रजा है। अतः सभी हमारे भाई हैं, इस प्रकार देखना चाहिए क्योंकि सब ईश्वर के अंश होने से ईश्वर की प्रजा है—

**ईश्वर अंश जीव अविनाशी।**
**चेतन अमल सहज सुख राशी॥**

जैसे अपने भाई को भयानक रोग—हैजे, ज्वर आदि बीमारी हो जाती है, तो हम उसके उस संक्रामक रोग से अपनी रक्षा करते हुए उसके हित के लिये वैद्य-डाक्टरों को बुलाकर या उसी को वैद्य-डाक्टरों के पास ले जाकर प्रेमपूर्वक उसका इलाज करवाते हैं, उसी प्रकार हमें सबके साथ मधुर व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं सभी हमारे सहृदय भाई हैं और उनमें सत्पुरुष प्रधानता से हमारे पूज्य भाई ही हैं। इसलिए सबका जिस प्रकार परम हित हो, वैसा ही

हमें करना उचित है, करना भी चाहिये। आध्यात्मिक विषय में यों समझना चाहिए— दुर्गुण-दुराचारों का जो समूह है वही बीमारी अथवा भयानक रोग है। ज्ञानी, भक्त, महायोगी महात्मा ही वैद्य हैं। उनके सभा लोगों को ले जाना या उनको लाकर उनसे मिला कर शरण में छोड़ देना ही रोगों को वैद्य-डाक्टरों से भेंट कराना है। उनके दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसनों से अपने को बचाना ही संक्रामक रोग से अपनी रक्षा करना है। अतएव हमें हर प्रकार से निष्काम-भावपूर्वक सबका परम हित करना चाहिए।

ऐसे भी न हो तो सीधी बात है कि संसार में गुण और दोष भरे हुए हैं, किन्तु अपने को तो गुणग्राही होना अति आवश्यक ही है। किसी के दोष की ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए।

अवधूत शिरोमणि श्री दत्तात्रेय जी ने जड़-चेतनात्मक चौबीस पदार्थों से शिक्षा ग्रहण की और उनके गुणों को सहर्ष धारण किया। इसी प्रकार हमें भी प्रत्येक के गुण ही ग्रहण करने चाहिए। भगवान् श्रीरामजी ने लक्ष्मण से संत और असंत के लक्षण बतलाकर अन्त में यही कहा है—

सुनहु तात मायाकृत,
गुण अरु दोष अनेक।
गुण यह उभय न देखि अहिं,
देखिअ सो अविवेक।
(रामचरितमानस ७/४१)

इसका भाव यह है कि संसार में माया से रचित गुण और दोष भरे पड़े हैं। हमारे लिए सबसे बढ़कर गुण (भाव) यह है कि किसी के अवगुण और गुण दोनों को ही न देखें, क्योंकि गुण-दोषों को देखना ही मूर्खता है। पर यदि देखे बिना न रहा जाय, तो गुण को ही देखना चाहिए। अवगुण को नहीं, क्योंकि दूसरों के अवगुणों को देखने, सुनने, कहने और मानने में महान् हानि है। नेत्रों से देखने, कानों से सुनने, वाणी से कहने और मन से चिन्तन पर हृदय में वैसे ही संस्कारों का संग्रह होता है और वह मानव फिर वैसा ही बन जाता है। इसके सिवाय दूसरों के अवगुणों को कहने-सुनने से एक तो हम उनके दोषों के हिस्सेदार बन जाते हैं और दूसरे उनकी आत्मा (चित्त) को दुःख पहुँचता है, इसलिए हम भी पाप के भागी होते हैं। अतएव किसी के दुर्गुण-दुराचारों को न तो कहें, न सुनें, न देखें और न हृदय में स्थान दें। इसलिये भगवती श्रुति ने कहा है—

भाव विशुद्ध होने से ही चित्त की शुद्धि अनायास ही मनुष्य प्राप्त कर उस परम तत्त्व शिव (आशुतोष) भगवान् के परमानन्दधाम में पहुँचकर सदा के लिए सुधा-पान करता है, अपितु चित्त की शुद्धि अति आवश्यक है।

## चित्त भाव पर नियन्त्रण

पातञ्जल योग-दर्शन में महर्षि श्री पतञ्जलि जी ने जो सूत्र कहा है—

## अथ योगानुशासनम्

इस सूत्र में योग के साथ अनुशासन पद का प्रयोग करके योग-शिक्षा में (चित्त शुद्धि हेतु) अनादिता सूचित की है—

## योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है। चित्त की वृत्तियां असंख्य होती हैं, किन्तु चित्त शुद्धि सद्भाव पर ही है।

## वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः

एक तो क्लिष्ट यानी अविद्या क्लेशों को पुष्ट करने वाली और योग साधन में विघ्न रूप होती है तथा दूसरी अक्लिष्ट यानी क्लेशों का क्षय करने वाली और योग साधन में सहायक होती है। अतः साधक को चाहिए कि इस रहस्य को भली-भांति समझकर पहले अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट वृत्तियों को हटावे, फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करे।

उपर्युक्त युक्ति द्वारा सद्भाव तथा चित्त की शुद्धि से योग सिद्ध करें, क्योंकि जब योगी का अहिंसा भाव पूर्णतया दृढ़ स्थिर हो जाता है, तब उसके निकटवर्ती हिंसक जीव भी वैर-भाव से रहित हो जाते हैं। इतिहास ग्रन्थों में जहां मुनियों के आश्रमों की शोभा का वर्णन आता है, वहां वनचर जीवों में भी स्वाभाविक वैर-भाव का—अभाव दिखलाया गया है। यह उन ऋषियों के अहिंसा भाव की प्रतिष्ठा का द्योतक है। उत्तम से उत्तम भाव प्रदर्शित किया है, जो चित्त को गद्गद् एवं आश्चर्य-चकित कर देने वाला है। मिसालके तौर पर—

खग मृग विपुल कोलाहल करहीं।
बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥

(श्री बाल्मीकि आश्रम वर्णन)

तथा—

चक्र बिहाय चरहि एक संगा।
जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥

(चित्रकूट वर्णन)

उत्तम भाव से भयानक हिंसक पशु तथा समस्त जीव-जन्तु भी अपना वैर-भाव भुला कर संत महा-पुरुषों के श्रीचरणों से लाभ उठा, जीवन सफल बना लेते हैं। यह सद्भाव की करामात, यही है सत्संग सुधा का लक्ष्य।

## जीवन की सार्थकता किस में ?

वास्तव में बहुमूल्य जीवन का एक-एक क्षण श्री सदाशिव भगवान् की पवित्रतम, मधुरतम स्मृति के द्वारा सद्भाव में परम कर्त्तव्य है। संसार के विषयरूप भोगोंसे इन्द्रियों को सुखी बनाने वाले प्राकृतिक पदार्थों से चित्त में विरक्ति तथा उपरति होनी चाहिए और आशुतोष भगवान् की नित्य-प्रति अखण्ड स्मृति रहनी चाहिए। इसी में जीवन की सफलता एवं सार्थकता है—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः॥

# संस्कारों का महत्त्व

[ स्व० आचार्य श्री गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ]

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा,
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्य-
शेमहि देवहितं यदायुः ॥

( यजु० अ० २५/मं० २१ )

इस वेद मन्त्र में उपदेश है कि मनुष्यों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उनके शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव सुदृढ़ और अपने अपने कर्त्तव्य पालते—कर्म करने में समर्थ हों, और उनकी आयु संसार के हित में व्यय हो।

शरीर के अवयवों को सुदृढ़ तथा योग्य बनाने, और उनको धर्मानुकूल प्रयुक्त करने का मुख्य साधन 'संस्कार' है। 'संस्कारों' से न केवल शरीर का ही विकास होता है, किन्तु मानसिक, वाचिक तथा आत्मिक उन्नति का भी एकमात्र साधन 'संस्कार' ही है। इसीलिए आर्य-जाति में संस्कारों को इतना महत्त्व दिया गया है।

## संस्कार और रस्मो-रिवाज—

'संस्कार' शब्द सम् उपसर्ग और 'कृ' धातु से मिलकर बना है। इसका अर्थ 'शुद्ध करना' या 'उन्नत' करना है। आजकल संस्कारों से रस्मोरिवाज या रिवायत का अर्थ लिया जाता है। रस्मोरिवाज से आजकल का सभ्य संसार तंग है। इसलिए शिक्षित-समुदाय, विशेषतः अंग्रेजी माध्यम से पठित वर्ग संस्कारों को व्यर्थ पाखण्ड समझता है। आर्य हिन्दू-जाति में संस्कार तो बहुत दिन से लुप्त प्रायः हो गये हैं, उनके केवल चिह्न शेष हैं। वे चिह्न भी या तो अशिक्षित स्त्रियों के हाथ में हैं, जो किसी न किसी प्रकार लकीर पीटती जाती हैं, या उतने ही अशिक्षित व अर्धशिक्षित पुरोहितों और पण्डितों के अधीन हैं, जो इनको अपनी जीविका चलाने के लिए करते जा रहे हैं। अन्य देशों में भी ऐसी ही दशा है।

'रस्मोरिवाज' इतना घृणित शब्द नहीं है, जितना कि समझा जाता है। यदि रस्मोरिवाज के इतिहास की विवेचना की जावे, तो ज्ञात होगा कि रस्मोरिवाज का आरम्भ में एक विशेष लक्ष्य था, जिस प्रकार प्रत्येक कार्य का हुआ करता है। कल्पना कीजिये कि आपको दुर्गम वन पार करके किसी नियत स्थान पर पहुँचना है। वन में कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। आप अपनी बुद्धि या विद्या या विद्वान्

के परामर्श से निश्चित दिशा में चलकर उस स्थान पर जा पहुंचते हैं। इसको आप साधारण कार्य कहेंगे। आपके पैरों के चिह्न भूमि पर पड़ेंगे तो सही, परन्तु वे स्पष्ट न होंगे। यदि उसी मार्ग पर आपने चिह्न बना दिये और आप या आपके अनुयायी पुनः पुनः उसी मार्ग पर चलकर उस स्थान तक पहुंचते हैं, तो यह एक सड़क बन जायेगी और भावी सन्तान को सुविधा हो जायेगी। जो सम्बन्ध आरम्भिक मार्ग और इस सड़क में है, वही सम्बन्ध 'व्यक्तिगत कार्यों' और 'रस्मोरिवाज' में है।

### महाजनो येन गतः स पन्था

बड़े मनुष्य जिस मार्ग से चलते हैं, वही सड़क=पथ कहलाती है। ऋषि-मुनियों ने वेद-विद्या से तथा तपोबल से पुरुष के कर्तव्य-पालन और मुक्ति-प्राप्ति (=सर्वविध दुःखों से छूटने) का एक कार्यक्रम निश्चित किया। लोगोंने उनका अनुकरण किया और शनैः शनैः इस कार्यक्रम का नाम ही रस्मोरिवाज हो गया।

### रस्मोरिवाजों की अनिवार्यता —

वर्तमान शिक्षित-समाज भी रस्मोरिवाज के फन्दे से छुटकारा नहीं पा सकता। यह हो सकता है कि एक प्रकार के रस्मोरिवाज को छोड़कर दूसरे प्रकार के रस्मोरिवाज को ग्रहण करले। जिधर आंख उठाइये उसी ओर रस्मोरिवाज का आधिपत्य मिलेगा। उदाहरण के लिए सबसे अधिक आवश्यक और सबसे अधिक कार्य-संलग्न सेना-विभाग को लीजिए। सेना में जीवन और मृत्युका प्रश्न प्रतिक्षण प्रस्तुत रहता है। वहां किसी ऐसे कार्य करने का समय नहीं मिलता, जो व्यर्थ या केवल मनोरञ्जन का साधन हो। परन्तु वहां रस्मोरिवाज का इतना अधिक जोर है कि पैर उठाने, हाथ हिलाने, ऊपर देखने, नीचे को आंख करने, सिर को मोड़ने, पीठ को फेरने, अभिवादन करने आदि प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य के लिए भी 'शब्द' नियत है और सैनिक व्यक्तियों को कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं दी जाती। सैनिकों के भिन्न-भिन्न कार्यों की चाल सम्बन्धी भिन्न-भिन्न क्रियाओं से, और आर्डर (=आज्ञाओं) की मंत्रों से तुलना की जा सकती है। राजकीय दरबारों, न्यायालयों, विश्वविद्यालयों की कानवोकेशन सभाओं, दीक्षान्त समारोहों में भी आप इसी प्रकार के रस्मोरिवाज का आधिपत्य पायेंगे। ये रस्मोरिवाज आजकल के सभ्य और शिक्षित समुदाय ने बनाये हैं और कोई उनको घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकता। फिर समझ में नहीं आता कि शिक्षित समाज की ओर से प्राचीन रस्मोरिवाज की ओर ऐसी उदासीनता या उपेक्षा क्यों है?

लोग पूछते हैं कि यज्ञ में यजमान पूर्व की ही ओर मुंह क्यों करें? विवाह-संस्कार में 'वधू' और 'वर' सात ही पग क्यों चलें?

जातकर्म में सोने की ही सलाका क्यों हो ? समावर्तन में अमुक मंत्र ही क्यों पढ़ा जाय ? अमुक कृत्य में आठ ही आहुति क्यों दी जाएँ ? परन्तु इन महाशयों से पूछा जा सकता है कि राज-दरबार में आते समय इतनी ही दूर से क्यों अभिवादन किया जाय। सिर को इतने ही डग्र क्यों झुकाया जाय। राज-दरबार के वस्त्र अमुक प्रकार के ही क्यों हों ? युनीवर्सिटी (=विश्वविद्यालयों) के कान्वोकेशन की गौन (=दीक्षान्त समारोह का चोगा) निश्चित प्रकार का ही क्यों हो ? हाईकोर्ट के जजों की टोपी नियत रीति की ही क्यों हो ? वकील काला कोट ही क्यों पहनें ? नर्सों की श्वेत वेशभूषा और सिर पर रूमाल ही क्यों बँधा हो ? तो उसका इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है कि ये कल्पित-नियम सभा या समाज को पूर्णरूपेण संगठित करने के लिए हैं, क्योंकि सादृश्य तथा ऐक्य ही संगठन का बाह्य साधन है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कार भी, जिनको रस्मोरिवाज कहा जाता है, समाज को संगठित करते हैं और इसीलिए आवश्यक हैं, अनिवार्य हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि सेना दरबार तथा यूनीवर्सिटी आदि के रस्मोरिवाज प्रभावशाली और प्रशंसनीय प्रतीत होते हैं, परन्तु गृह्य-संस्कारों के नियम व विधियाँ ऊलजलूल अनावश्यक और वर्तमान काल की स्पिरिट के सर्वथा प्रतिकूल होने से हास्यजनक हैं। जैसे विद्या-समाप्ति के पश्चात् स्नातक होने से पूर्व सिर मुंडाना कैसा भद्दा लगता है ? परन्तु ऐसे पुरुषों ने यह नहीं विचारा कि हमारे संस्कारों में कितना आवश्यकीय और महत्व-पूर्ण भाग है और वह मनुष्य की शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति का कहाँ तक साधक है ? उन्होंने गौरवशालिता तथा भद्दे-पन के भी कल्पित अर्थ ले लिए हैं। इसीलिए उनको प्रभावशाली वस्तुएँ भी केवल इसलिए भद्दी लगती हैं कि विदेशी लोग या उनके मानसपुत्र अंग्रेजी पढ़े भारतीय उनको भद्दा समझते हैं।

उदाहरण के लिए सिर पर शिखा का होना कोई भद्दे-पन का चिह्न नहीं है, परन्तु भारतीय नव शिक्षितों ने देखा कि यूरोप के लोग पूर्वीय देशों के शिखाधारियों को पिगटेल्ज या सुअरपुच्छ कहते हैं, तो उन्होंने भी शिखा जैसे जातीय धर्म-चिह्न को तिलांजलि दे दी। यह केवल विदेशीय आदर्शों के अन्धानुकरण का फल है कि नवशिक्षित पुरुष चोटी को तो भद्दा समझें, परन्तु मुसलमानों की तुर्की टोपियों के ऊपर की शिखा को सुन्दर कहें। शिखा-चिह्न यज्ञोपवीत को व्यर्थ का भार समझें, परन्तु 'नेकटाई'—कण्ठलग्न को बड़प्पन का चिह्न समझें। प्रायः नवयुवक पूछते हैं कि शिखा क्यों रखी जाय ? जनेऊ क्यों पहना जाए ? परन्तु कोई नहीं पूछता कि अल्स्टर-फैशन के कालर क्यों रखने चाहिए ? नेकटाई से गला क्यों घोंटा जाय ?

यद्यपि संस्कारों को आजकल रस्मोरिवाज कहते हैं, और हमारी दृष्टि में रस्मोरिवाज भी समाज संगठन के लिए बड़े आवश्यक हैं, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि रस्मोरिवाज ही संस्कार है। हमारे विचार में ये रस्मोरिवाज तो संस्कारों के बाह्य चिह्न हैं। संस्कारों में तो आन्तरिक जीवन भी है। धान अर्थात् चावल के ऊपर की भूसी चावल नहीं है, परन्तु चावल का जीवन अवश्य है। इस छीलके बिना चावल की उत्पत्ति स्थिति और वृद्धि नहीं हो सकती थी। इस छीलके ने चावल को उत्पन्न व प्रवृद्ध होने में बड़ी सहायता दी है। यदि यह छील न होता, तो चावल की रक्षा नहीं हो सकती थी। इसलिए चावल के ऊपर की भूसी को व्यर्थ और अनावश्यक समझना बड़ी भारी भूल व नासमझी है। हाँ! इससे बड़ी भूल यह भी है कि भूसी को ही चावल समझा जाये। धान चावल और भूसी दोनों का नाम है। इसी प्रत्येक संस्कार के दो रूप होते हैं—एक आन्तरिक रूप और दूसरा बाह्य। बाह्य-रूप आन्तरिक महत्त्व की रक्षा करता है, यह उसको संसार में चलने और जीवित रहने में सहायता करता है। और आन्तरिक महत्त्व संस्कार के बाह्य रूप में निखार और आकर्षण पैदा करता है। संस्कार के बाह्य रूप का नाम रस्मोरिवाज है। रस्मोरिवाज न होते, तो संस्कारों का आन्तरिक महत्त्व भी कभी का नष्ट हो जाता। अतः यद्यपि रस्मोरिवाज संस्कार नहीं है, किन्तु संस्कार का एक भाग अवश्य है।

## जन्म के समय बच्चे की स्थिति—

ऊपर कहा गया है कि संस्कार का अर्थ है—'शुद्धिकरण' या 'विकास'। जब बच्चा उत्पन्न होता है, तो वह न पूर्ण ही होता है, और न शुद्ध। प्रायः हमने लोगों को यह कहते सुना है कि बच्चा निर्दोष होता है। उसका मन सफेद कागज के समान निर्मल होता है। और केवल संसार में आकर ही वह दोषों को सीखने लगता है। परन्तु याद रखना चाहिए कि यह बात वैदिक-सिद्धान्त नहीं है। यह दार्शनिक दृष्टि से भी अयुक्त है। ईसाई और मुसलमान लोग बच्चों को मासूम (निर्दोष) इसलिये कहते हैं कि वे आवागमन और भूत-पूर्व जीवन पर विश्वास नहीं रखते। वे समझते हैं कि ईश्वर जीव को बनाता है, अतः वह जीव शुद्ध ही होगा। इंग्लैंड के विख्यात फिलासफर लॉक ने भी बच्चों के मस्तिष्क को श्वेत निर्मल-पट्टी से उपमा दी है। वह कहता है कि—जिस प्रकार श्वेत-पट्टी पर तुम जो चाहो, सो लिख सकते हो, उसी प्रकार बच्चे का मस्तिष्क भी निर्मल होता है। और जब संसार के बाह्य प्रभाव उस पर पड़ने लगते हैं, तब वह मलिन हो जाता है। लॉक महाशय के दार्शनिक विचारों की मीमांसा का अवसर न होने से हम यहाँ उनकी थ्योरी पर अधिक कुछ नहीं कह सकते, परन्तु इतना अवश्य निवेदन है कि शिक्षा-शास्त्र—शिक्षाविधान की नींव ऐसे भ्रममूलक सिद्धान्त पर रखना

बड़ी भूल है। बच्चा शारीरिक वाचिक मानसिक तथा आत्मिक किसी अपेक्षा से भी न तो पूर्ण ही होता है, और न शुद्ध-संस्कार सहित। इसलिए उसकी अपूर्णता और अशुद्धि दोनों को ही दूर करने के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। उन्हीं साधनों का नाम 'संस्कार' है।

**संस्कारों की आवश्यकता—**

जीवात्मा जब एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में जाता है, तो उसके पूर्वजन्म के प्रभाव—वासनायें उसके साथ जाते हैं। इन प्रभावों का वाहक सूक्ष्म शरीर होता है, जो जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाता है। इन प्रभावों में कुछ बुरे होते हैं, और कुछ भले। इन्हीं को संस्कार भी कहते हैं, जैसे 'भले संस्कार' 'बुरे संस्कार' आदि।

जब जीवात्मा दूसरे शरीरमें प्रविष्ट होता है, तो उसको इस नई परिस्थिति में सहस्रों अन्य प्रभाव भी मिलते हैं। इनमें से कुछ तो बुरे प्रभावों के अनुकूल होते हैं, और कुछ भलों के। भले प्रभाव भले प्रभावों का स्वागत करना चाहते हैं, और बुरे बुरों का। इसको स्पष्ट करने के लिए हम नीचे दो उदाहरण देते हैं। पहला रेल के डिब्बे का है। कल्पना कीजिये कि एक डिब्बेमें दो सौ मनुष्य भरे हैं। उनमें कुछ बुरे और कुछ भले हैं। यह रेल आगे के स्टेशन पर ठहरती है, जहां सैकड़ों मनुष्य खड़े हैं। स्वभावतः बुरे आदमी बुरों को भीतर लेने का प्रयत्न करेंगे, और भले भलों को। यदि भलों का प्राबल्य है तो वे बुरों को न आने देंगे। यदि बुरों का प्राबल्य होगा, तो वे भलों को रोकेंगे। यही दशा पूर्वजन्म के प्रभावों की है। दूसरा उदाहरण खेत का है। खेत में आप बैंगन, तोरी, गाजर, करेला, मूली और शलजम का बीज बोते हैं। ये बीज समान नहीं हैं। खेत के खाद में इन सब प्रकार के बीजों की सजातीय सामग्री उपस्थित है। परन्तु बैंगन का बीज अपनी सजातीय वस्तुओं को तो ग्रहण करता है, और शेष को छोड़ देता है। यही तोरी, गाजर, मूली और शलजम के बीजों का हाल है। इसी प्रकार पूर्वजन्म के 'प्रभाव' कार्य करते हैं। यही कारण है कि एकसी परिस्थिति में रह कर भी दो बच्चे दो प्रकार के हो जाते हैं। यदि बच्चे आरम्भ से एक समान शुद्ध होते, तो उनमें एक सी परिस्थिति में रहकर कभी भेदभाव न होता।

तब देखना चाहिए कि संस्कारों की आवश्यकता कहां पड़ती है? बच्चा भले और बुरे प्रभाव को लेकर अपने नये जीवन में प्रवेश करता है। उसके पालन-पोषण का भार समाज पर पड़ता है। अतः समाज के नियम इस प्रकार के होने चाहिए कि पूर्वजन्म के बुरे प्रभावों का शनैः-शनैः तिरोभाव होता जाय, और अच्छे प्रभाव उत्पन्न होकर को प्राप्त होते जायें। समाज ऐसा करने के लिए जिन नियमों का विधान व पालन करता है, उनको ही 'संस्कार' कहते हैं। —वेदवाणी, से साभार

# अनन्त श्री सद्गुरुदेव जी महाराज

की

## जम्मू-काश्मीर यात्रा

[ प्रेषक—चौधरी श्री रामदास जी गुप्त, पत्रकार ]

श्री सद्गुरुदेव योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज अपने पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ३ मई सन् १९६७ को श्रीनगर जम्मू में पधारे। आपके साथ लगभग १० आश्रम प्रवासी गुरु-भाई-बहन भी थे। इनके संचालक बहन ... आयुर्वेद ... श्री कृष्णमूर्ति जी तथा कलाकार श्री शंकर चैतन्य आदि थे। विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं तथा रघुनाथ मन्दिर, पुरानी मण्डी में व्यापक योग-प्रचार कार्यक्रम चलता रहा। युवकों और छात्र-छात्राओं पर इस प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ा। श्री सद्गुरुदेवजी के प्रवचनों ने नगर के उच्च जन-साधारण की अभिरुचि को विशेष रूप से प्रभावित किया। ६ मई को जम्मू के सार्वजनिक क्रीड़ा-स्थल में श्री गुरुदेवजी के शिष्य कृष्णमूर्ति जी ने यौगिक क्रियाओं का कई रोमांच भरे कार्यक्रम प्रस्तुत किये। जैसे पेट्रोल-टैंक को अपनी छाती से गुजारना, दो मोटरों को एक साथ रोकना, आँखों से रस्सा बाँधकर मोटर को खींच लेना, पलक से लोहे की सरिया को मोड़ देना आदि। इन यौगिक क्रियाओं का भी जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

१० मई से १५ मई तक श्री महाराज जी ने अपने शिष्यों सहित ज्योतिपुरम (सलाल प्रोजेक्ट) कटरा तथा भगवती वैष्णोदेवी की यात्रा की। इन स्थानों पर जहाँ-जहाँ भी होकर श्री महाराज जी गुजरे, योग-प्रचार, सत्संग, भजन आदि का कार्यक्रम चलता रहा।

१७ मई से २९ मई तक श्री गुरुदेव जी महाराज तथा उनकी मण्डली काश्मीर में श्री नन्दलाल जी ... के निवास-स्थान पर ठहरे। यहाँ भी श्री महाराज के प्रचार कार्यक्रम अनेक स्थानों पर चले। जैसे—शेरे नागा स्कूल, अमर नाथ ..., अनन्तनाग, ... गाँव आदि। यहाँ से अन्य कई छोटी-मोटी यात्रायें भी की गईं। मटन तीर्थ में प्रभुजी श्री रामचन्द्र जी के हस्ताक्षरों से युक्त एक बही के दर्शन किये गये। इससे प्रतीत हुआ कि श्री प्रभुजी पर हिमालय के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा पर आया करते थे। इसी बही पर श्री महाराज जी ने भी अपने हस्ताक्षर किये। श्री नन्दलाल जी ... का आतिथ्य सराहनीय रहा। यहाँ से श्रीनगर को महाराजजी ... में ठहरे। श्रीनगर टेलीविजन सेण्टर पर जीवित ... की क्रियाओं का दिग्दर्शन आपके निर्देशन में कराया गया। टेलीविजन के इस कार्यक्रम को सबने उत्सुकता और प्रसन्नता से देखा। दिनांक १ जून को श्री महाराजजी ने यहाँ का कार्यक्रम पूरा करके ... के लिए प्रस्थान किया। अगस्त में सम्भवतः आप फिर इधर की यात्रा करेंगे। प्रसिद्ध योगी श्री हरि चैतन्य का भी इस यात्रा में पूर्ण सहयोग रहा।

Sidhayoga Regd No. L. Ag. 00[illegible]

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

# सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

## काम-दहन

कामदेव अनंग है, शंकर ने उसका देह भस्म कर दिया था। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में अपने पति का अपमान न सहन करने के कारण सती ने योगाग्नि से अपना देह भस्म कर दिया था। ठीक ही तो है, शिव-द्रोही, मोहग्रस्त, प्रजा उत्पन्न करने में दक्ष, प्रजापतियों के वंश से पैदा होने वाली वह सती शक्ति, उनके समान सती में अपने ईश्वर का तिरस्कार कैसे सहन कर सकती है। प्रजापति से यहां हमारा अभिप्राय राजे-महाराजाओं से नहीं है, हमारे विचार से तो अनेक गृहस्थ, जो बच्चे पैदा करने में ही कुशल हैं, अपनी प्रजा का छोटा-मोटा प्रजापति ही है। अस्तु! दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती के देह-त्याग के पश्चात् शंकर दीर्घकालीन समाधि लगाकर बैठ गये और सती ने पर्वतराज हिमालय के घर जन्म ग्रहण किया। पार्वती ने शिवजी के साथ विवाह करने का हठ किया और उग्र तप करने लगीं। तब देवताओं ने कामदेव को शिवजी की समाधि खोलने के लिए भेजा। कामदेव अपना दलबल लेकर शिवजी के स्थान पर पहुँचा। वहाँ वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव हुआ, वनस्पतियों को शीतल मंद सुगन्धित वायु चलने लगी, पुष्प खिल गये खिल पर और गुंजने लगे और कामदेव ने अपने पाँचों बाणों का शिवजी पर प्रहार किया। बस, शिवजी की समाधि खुल गई। उन्होंने सामने कामदेव को एक झाड़ के पीछे खड़ा देखा। उसको अपनी समाधि में विघ्नकर्ता देखकर शिवजी ने तीसरा ज्ञान-नेत्र खोला और कामाग्नि ने उसे भस्म कर दिया; तब से काम अनंग हो गया है। उसकी पत्नी रति ने पार्वती से अपना दुःख सुनाया। भवानी ने कृपा करके उसे फिर जीवित कर दिया। अब वह अनंग होने पर भी कामियों को अपने प्रभाव से पराजित करके सारे जगत् का विजेता कहलाता है। प्रजा के लिए [illegible] आवश्यकता है और इसके बिना सृष्टि-प्रसार सम्भव नहीं है। भगवान ने भी कहा है- 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

स्वामी सिद्धतीर्थ

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विमल' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, [illegible], आगरा-1